रघुवंशम्

मल्लिनाथकृत-सञ्जीविनी-व्याख्या-समलङ्कृतम्

तथैव च

'विमला'-'चन्द्रकला'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

(त्रयोदशसर्गात्मकम्)

व्याख्याकारः—

डॉ० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी

भू० पू० प्राध्यापक एवं अध्यक्ष

पुराणेतिहास, संस्कृति, भूगोल विभाग

श्रीसम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

THE

CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA

9

RAGHUVAMSA

OF

KĀLIDĀSA

With 'Sanjivini' Commentary of Mallinatha

and

'Vimala'-'Chandrakala' Sanskrit & Hindi Commentaries

(Canto XIII)

By

Dr. Shrikrishnamani Tripathi

Former Professor & Head of the Deptt. of Puranetihas.

Sri Sampurnananda Sanskrit Vishwavidyalaya, Varanasi.

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

VARANASI

प्राक्कथन

स विश्ववन्द्यो महतां कवीनां गुरुर्मनीषी कविकालिदासः ।
यत्काव्यपीयूषरसप्रवाहः स्वादामितानन्दमयो हि लोकः ॥

कविकुलकलाधर कविवर कालिदास की कमनीयकलेवर कविता विश्व के किस सहृदय-हृदय को आनन्दमग्न नहीं कर देती ? महाकवि कालिदास हमारे राष्ट्रीय कवि तथा भारतीय संस्कृति के प्रमुख परिपोषक थे। भारत की संस्कृति इनकी काव्यवाणी में बोलती है और इनके नाटकों में अपना मनोरम रूप दिखाकर मानवमात्र के हृदय का मनोरञ्जन करती है। कालिदास ने अपने काव्य-चमत्कार से समस्त संसार में ख्याति प्राप्त की है। इनके काव्यों में पदलालित्य, रचनाचातुर्य, कल्पनाशक्ति, प्रकृतिवर्णन एवं चरित्र-चित्रण पढ़कर विश्व का प्रत्येक पाठक प्रफुल्ल हो उठता है, इनमें विचारगाम्भीर्य है, संसार का अनुभव है, बहुमूल्य सिद्धान्त हैं, इनके पदों से उपदेश भी मिलता है और इनकी उक्तियाँ आज भी हमारा पथ-प्रदर्शन करती हैं। इनकी कविता में प्रसादगुण की अगाधता, माधुर्य का मधुर सन्निवेश, कोमलकान्तपदावली का प्राचुर्य, उपमा की अपूर्वता, अलङ्कारों की रमणीयता, छन्दों की छटा और भावसौष्ठव पर्याप्तमात्रा में विद्यमान हैं। इनके काव्यों को जिस दृष्टि से देखा जाय उसी से काव्यकला की कमनीयता प्रकट होती है। इनकी कविता में सरस, सरल, सुबोध तथा सुन्दर शब्द एवं भावों का साम्राज्य, सहृदयों की तो बात ही क्या है, साधारण मनुष्य के मन को भी मुग्ध कर देता है। व्यंग्यार्थप्रतिपादन की विलक्षण शैली, रसपरकर्ष का प्रकाशन, विस्तृत विषय का थोड़े में वर्णन, वर्ण्य-विषय को सुन्दर क्रम से रखकर रोचक बनाना, स्वाभाविक भाव के द्वारा लोकोत्तरानन्दप्रदान का ढंग आदि कालिदास की कविता के विशेष गुण हैं।

कालिदास संस्कृत साहित्य के अद्वितीय महाकवि माने जाते हैं। इनकी कविता की मधुरिमा के सामने अन्य कवियों की कविता फीकी पड़ जाती है। आपने जैसा मानवहृदय के सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों का निरीक्षण किया है वैसा अन्य कवियों ने नहीं। कालिदास अन्तर तथा बाह्य दोनों जगत् के सूक्ष्म निरीक्षक कवि हैं।

यों तो कालिदास ने अपनी रचनाओं में स्थान-स्थान पर सभी रसों का सन्निवेश किया है, पर ये प्रधान रूप से शृङ्गार रस के रसिक कवि हैं। इनकी रचनाएँ शृङ्गार रस से ओत-प्रोत हैं। इनके काव्यों में सम्भोग-शृङ्गार का प्रकाशमान रूप तथा विप्रलम्भ-शृङ्गार की करुणामूर्ति पाठक एवं श्रोताओं के हृदय को चमत्कृत कर देते हैं। मेघदूत में विप्रलम्भ-शृङ्गार और कुमारसम्भव में सम्भोग-शृङ्गार का प्राचुर्य है। सम्भोग-शृङ्गार की अपेक्षा इनका विप्रलम्भ-शृङ्गार उच्चकोटि का होता है। मेघदूत का उदाहरण देखिए—

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।

अस्त्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥

पर्वत के चट्टानों पर गैरिकादि धातुओं से प्रणयकुपिता अपनी प्रियतमा की मूर्ति बनाकर क्षमा के लिए उसके चरणों पर गिरने का प्रयत्न करते समय अश्रुप्रवाह उमड़ आने से कल्पित सम्भोग में भी बाधा पड़ने के कारण क्षुब्धहृदय यक्ष का क्रूर कृतान्त-विषयक उपालम्भ पढ़कर किस सहृदय का हृदय व्यथित नहीं हो उठता है? निर्जीव मेघ को दूत बनाकर अपनी प्रियतमा के पास प्रेममय सन्देश भेजनेवाले यक्ष के प्रेमोन्माद को पढ़कर कालिदास की काव्यकला की प्रशंसा किए विना कौन रह सकता है?

कालिदास के करुणरस का वर्णन भी स्वाभाविक होता है। कुमारसम्भव के चतुर्थ सर्ग में शङ्कर की क्रोधाग्नि से कामदेव के भस्मसात् हो जाने पर रति का विलाप तथा रघुवंश के अष्टम सर्ग में आकाश से गिरी हुई पुष्पमाला के आघात से इन्दुमती के मर जाने पर अज का विलाप करुण रस के मर्मस्पर्शी उदाहरण हैं। इन्दुमती के मर जाने पर अज विलाप करते हुए कहते हैं—

स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम्।
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥

कुमारसम्भव में भगवान् शङ्कर के ललाटस्थ तृतीय नेत्र से निर्गत अग्नि से भस्मसात् हुए अपने पति के शरीर को देखकर रति विलाप करती हुई कहती है—

शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित्प्रलीयते।
प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि ॥

अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के चतुर्थ अङ्क में शकुन्तला को अपने पति के घर जाते समय कवि ने ऐसा मर्मस्पर्शी करुण रस का चित्र अङ्कित किया है कि विषयसुख से विमुख कण्व जैसे धीर महर्षि भी रोये विना नहीं रहे—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमहो स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥

कालिदास की कविता में हास्य रस भी उच्चकोटि का है। इनकी कविता पढ़कर पाठक मुस्करा देता है, ठहाके की हँसी नहीं हँसता। कुमारसम्भव महाकाव्य के पञ्चमसर्ग में पार्वती के आश्रम पर आकर भगवान् शङ्कर की निन्दा करता हुआ कपटवटु पार्वती का उपहास करता हुआ कहता है—

इयं च तेऽन्या पुरतो विडम्बना यदूढया वारणराजहार्यया।
विलोक्य वृद्धोक्षमधिष्ठितं त्वया महाजनः स्मेरमुखो भविष्यति ॥

साहित्यजगत् के समालोचक शेक्सपियर को अन्तर्जगत् का तथा कालिदास को बाह्यजगत् का कलाकार कवि कहते हैं। प्रकृति के मनोरम चित्रण में कालिदास अद्वितीय हैं। इनके प्रकृतिचित्रण में रमणीयता, भव्यता, सजीवता तथा स्वाभाविकता ओत-प्रोत है।

प्रकृति के साथ कालिदास की अपूर्व सहानुभूति है। प्रकृति के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन जैसा इन्होंने किया है वैसा संस्कृत जगत् का कोई अन्य कवि नहीं कर पाया है। इन्होंने प्रकृति के अनुपम दृश्यों का सच्चा चित्र खींचा है। ये कोमल रूप के उपासक हैं, भवभूति के समान उग्र रूप में इनका प्रेम नहीं है। ये प्रायः शान्त तपोवन, नदीतट, उपवन, प्रासाद, भ्रमर, मृग तथा कोकिल आदि के वर्णन करने में अपना सौभाग्य समझते हैं। इन्हें विन्ध्याचल पर्वत की अपेक्षा हिमालय से अधिक प्रेम है। इन्होंने अपने कुमार-सम्भव में हिमालय का सजीव वर्णन किया है। इन्हें ६ ऋतुओं में ग्रीष्म और वसन्तऋतु बहुत प्रिय हैं।

जहाँ पाश्चात्त्य कवियों के प्रकृतिवर्णन नग्न होते हैं वहाँ भारतीय कवियों का प्रकृति-वर्णन अलंकृत होता है। पाश्चात्त्य कवि विना किसी आवरण के प्रकृति को उसके असली रूप में उपस्थित कर देते हैं, परन्तु भारतीय कवि प्रकृति को मनोरम मुग्धकारी विविध आभूषणों से सुसज्जित कर पाठकों के समक्ष उपस्थित करते हैं। महाकवि कालिदास में इस अलंकृत वर्णनशैली की ही निपुणता है। इतना ही नहीं इनके प्रकृति-वर्णन में वैज्ञानिक ज्ञान का पर्याप्त परिचय मिलता है।

रघुवंश के नवम सर्ग में वायु से हिलाई गई लता को लक्ष्य कर वसन्त ऋतु का कैसा मनोरञ्जक वर्णन है—

> श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचो बभुः।
> उपवनान्तलताः पवनाहतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः॥

स्त्री और पुरुषों के विविध मनोभावों का इन्हें पूर्ण ज्ञान है, उसे व्यक्त करने के लिए इन्होंने अभिधाशक्ति का प्रयोग न कर व्यंजनाशक्ति से ही काम लिया है। इससे इनकी कविता में और भी चमत्कार आ जाता है।

जब अङ्गिरा ऋषि हिमालय के पास आकर कहने लगे कि अपनी पुत्री पार्वती का विवाह भगवान् सदाशिव के साथ कर दीजिए। उस समय पार्वती का वर्णन करते हुए अन्तर्जगत् के पारखी कालिदास कहते हैं—कि अङ्गिरा ऋषि के इस प्रकार कहते समय अपने पिता हिमालय के पास खड़ी हुई पार्वती लज्जावश मुँह नीचे करके हाथ में लिए लीलाकमल के पत्रों को गिनने लगीं—

> एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
> लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥

इस श्लोक में कवि ने लज्जा शब्द का प्रयोग नहीं किया है; किन्तु लज्जा के उदय होने पर पार्वती ने जो कार्य किया है, उसी का वर्णन किया है, वही कार्य हृदयगत लज्जाभाव को व्यक्त कर देता है।

पर्वतों में हिमालय, नगरियों में उज्जयिनी, देवताओं में शिव, छन्दों में मन्दाक्रान्ता, अलङ्कारों में उपमा, रसों में शृङ्गार और ऋतुओं में वसन्त कालिदास को परम प्रिय थे।

संस्कृत साहित्य के लक्षणकार आचार्यों ने गौडी, पाञ्चाली, वैदर्भी और लाटी नाम की चार रीतियाँ तथा माधुर्य, ओज और प्रसाद ये ३ गुण माने हैं। गौडी रीति में बड़े-बड़े समास तथा पाञ्चाली में छोटे-छोटे समास होते हैं। वैदर्भी रीति में समास प्रायः नहीं के बराबर होते हैं। गौडी में ओज गुण, पाञ्चाली में माधुर्य गुण और वैदर्भी में प्रसाद गुण की प्रधानता होती है।

कालिदास की कविता में वैदर्भी रीति और प्रसाद गुण ओतप्रोत है। प्रसाद गुण के प्राधान्य होने के कारण कालिदास की कविता शीघ्र ही समझ में आ जाती है।

कालिदास का भाषा पर पूर्ण अधिकार है। इनकी भाषा व्याकरण से परिष्कृत सरल, सरस एवं सुबोध होती है। ये—'च, तु, हि, वै, किल, खलु आदि का प्रयोग केवल पाद की पूर्ति के लिए नहीं करते हैं; किन्तु उनका जहाँ प्रयोग करते हैं वहाँ वे सार्थक होते हैं। इनके शब्द नपे-तुले होते हैं और इनके वाक्यों में क्रियापद प्रायः स्पष्ट होते हैं। ये किसी बात को घुमा-फिरा कर कहने की अपेक्षा सीधे कह देना अधिक पसन्द करते हैं। थोड़े शब्दों में अधिक अर्थ व्यक्त करने की प्रवृत्ति इनमें विशेष रूप से दीख पड़ती है।

जैसे भिन्न-भिन्न वर्णों के उच्चारण के लिए भिन्न-भिन्न कण्ठ-ताल्वादि के आघातों के भेद हैं और भिन्न-भिन्न वर्ण, भिन्न-भिन्न रस भाव एवं अलङ्कारों के व्यञ्जक हैं, वैसे ही विभिन्न रसों को व्यक्त करने के लिए विभिन्न छन्द भी हैं। शृङ्गार रस के व्यञ्जक वर्णों के द्वारा ही शृङ्गार रस की पुष्टि तथा वीर रस के व्यञ्जक वर्णों से वीर रस की पुष्टि हो सकती है, अन्य वर्णों से नहीं। अतः केवल शब्द-योजना ही काव्य में रस सिद्धि के लिए पर्याप्त नहीं है, उसके लिए छन्द की योजना भी अपेक्षित है। क्षेमेन्द्र ने अपने सुवृत्ततिलक में कहा है कि काव्य में रस तथा वर्णनीय वस्तु के अनुसार छन्दों का विनियोग करना चाहिए—

काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च।
कुर्वीतसर्ववृत्तानां विनियोगं विभाववित्॥

कालिदास का छन्द-विषयक ज्ञान भी गम्भीर और पूर्ण है। उन्होंने अपने काव्यों में प्रायः सभी प्रमुख छन्दों का प्रयोग किया है। ये छन्दों का चुनाव रस और वर्ण्य-वस्तु के अनुकूल ही करते हैं। कालिदास मन्दाक्रान्ता छन्द के सिद्धहस्त कवि माने जाते हैं। इन्होंने अपने खण्डकाव्य मेघदूत को केवल मन्दाक्रान्ता छन्द में ही लिखा है—

सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता प्रवल्गति।
सदश्वस्य दमस्येव कम्बोजतुरगाङ्गना॥

प्रत्येक कवियों में किसी न किसी विषय की खास विशेषता रहती है। कविवर कालिदास उपमा अलंकार के आचार्य माने जाते हैं। तत्तत् कवियों की विशेषता व्यक्त करते हुए एक आलोचक ने बहुत ही ठीक कहा है—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम् ।
दण्डिनः पदलालित्यं त्रयोऽप्येकैकतोऽधिकाः ॥

कालिदास की उपमाएँ एक से एक बढ़कर हैं। उन्होंने नई-नई उपमाओं की उद्भावना की है। इनकी उपमाओं के विशेष चमत्कार का कारण यह है कि प्रायः इनकी उपमाएँ अन्तर्जगत और बाह्यजगत् दोनों से ली गई हैं। इन्होंने उपमाओं में उपमान तथा उपमेय के वचन और लिंग तक का भी विचार किया है। रघुवंश के षष्ठ सर्ग में इन्दुमती के स्वयंवर में उपस्थित राजाओं की दशा का वर्णन करते हुए कालिदास लिखते हैं—

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिम्वरा सा ।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥

इस श्लोक में इन्दुमती की उपमा स्त्रीवाची दीपशिखा शब्द से दी गई है। और राजा की उपमा पुंलिङ्ग अट्ट शब्द से दी गई है। लिंग की समता के साथ-साथ वचन की समता भी दर्शनीय है।

रघुवंश के द्वितीय सर्ग में जब दिलीप वसिष्ठजी की लाल नन्दिनी को चराकर लौटते हैं तो सुदक्षिणा उनकी प्रतीक्षा करती हुई स्वागत करने के लिए खड़ी हैं, दोनों के बीच में नन्दिनी की शोभा का वर्णन करते हुए कालिदास लिखते हैं—

पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या ।
तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या ॥

यहाँ राजा की उपमा दिन से, सुदक्षिणा की उपमा रात्रि से और लाल नन्दिनी की उपमा लाल सन्ध्या से दी गई है। और भी देखिए—

शरीरसादादसमग्रभूषणा मुखेन सालक्ष्यत लोध्रपाण्डुना ।
तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी ॥

शरीर की दुर्बलता के कारण कुछ ही आभूषण पहनी हुई उस सुदक्षिणा की लोध्रपुष्प सदृश पीले मुख से ऐसी शोभा हुई जैसे प्रातःकाल टिमटिमाते हुए ताराओं से युक्त रात की शोभा पीले वर्ण के चन्द्रमा से होती है। यह भाव व्यक्त करने के लिए कवि ने लोध्रपाण्डु मुख से चन्द्रमा की एवं एकाध तारा युक्त प्रभातकल्पशर्वरी से सुदक्षिणा की उपमा देते हुए कितने सुन्दर ढङ्ग से पूर्णोपमा व्यक्त की है। इस प्रकार कालिदास की कविता में स्थल-स्थल पर अनूठी उपमा का चमत्कार मिलता है। इनकी उपमाओं में स्वाभाविकता का उत्कर्ष है जिससे पाठक का हृदय सहसा चमत्कृत हो उठता है।

कालिदास का समय

संस्कृतसाहित्य जगत् के देदीप्यमानमणि कविवर कालिदास के समय के सम्बन्ध में विद्वानों का महान मतभेद है, क्योंकि कालिदास ने तो अपने सम्बन्ध में कहीं भी कुछ नहीं लिखा है। विभिन्न विद्वानों ने आन्तरिक एवं बाह्य प्रमाणों के आधार पर कालिदास का अस्तित्व

ई० पू० प्रथम शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी तक माना है। कालिदास ने प्रथमशती के शुङ्गवंशी नरेश अग्निमित्र को अपने मालविकाग्निमित्र नामक नाटक का नायक बनाया है तथा छठी शताब्दी के महाराज हर्षवर्द्धन के दरबारी महाकवि बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित में कालिदास की कविता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। अतः कालिदास का समय ई० पू० प्रथम शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी के बीच में कहीं होना चाहिए। इस आधार पर इनके विषय में मुख्य रूप से तीन मत उपस्थित होते हैं—

(१) कालिदास की सत्ता छठी शताब्दी में मानना आवश्यक है।

(२) कालिदास जैसे उत्तम कवि गुप्तनरेशों के स्वर्णयुग में ही हो सकते हैं।

(३) कालिदास ई० पू० प्रथम शताब्दी के महाकवि हैं।

प्रथम मत—डॉ० हार्नली मानते हैं कि यशोवर्धन् ने बलादित्य नरसिंह गुप्त की सहायता से कारुर के युद्ध में हूणवंश के प्रतापी राजा मिहिरकुल को हराकर विक्रमादित्य की उपाधि प्राप्त की और अपनी इस बड़ी विजय के उपलक्ष्य में उसने विक्रम नाम का एक नया संवत् चलाया, जिसे प्राचीन सिद्ध करने के लिए उसे छः सौ वर्ष पूर्व से ही प्रचारित कर दिया।

समीक्षा—यशोवर्धन् द्वारा ६०० सौ वर्ष पहले से विक्रम संवत् का चलाना इतिहास विरुद्ध है, क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि मालव संवत् के नाम से जो संवत् चला आता था, शकारि विक्रमादित्य ने शकों की विजय के उपलक्ष्य में उसी का नाम विक्रम संवत् रख दिया। हूणों के विजेता यशोवर्धन् हूणारि कहे जा सकते हैं, शकारि नहीं, और उनके शिलालेखों में विक्रम संवत् की स्थापना की चर्चा कहीं भी नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि ४७३ ई० में कुमारगुप्त की प्रशस्ति के लेखक वत्सभट्टिकवि ने अपने ग्रन्थ में कालिदास के अनेक पद्यों का अनुकरण किया है। अतः कालिदास पञ्चम शताब्दी के बाद नहीं हो सकते हैं। यह मत अब अनेकों प्रमाणों में अमान्य एवं अग्राह्य हो चुका है।

दूसरा मत—बहुत से विद्वानों ने सर्वतः समृद्ध एवं शान्तिमय गुप्त नरेशों के स्वर्णयुग में कालिदास की सत्ता मानी है। इनमें पूना के प्रो० के० पी० पाठक का मत है कि कालिदास गुप्तनरेशों के समकालीन थे, क्योंकि रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में वर्णित रघु के दिग्विजय से समुद्रगुप्त के दिग्विजय में अधिक समानता है, किन्तु डा० स्मिथ, कीथ, मेक्डानल, रा० कृ० भण्डारकर, पं० रामावतार शर्मा आदि बहुसंख्यक विद्वान् मानते हैं कि कालिदास के आश्रयदाता गुप्तनरेशों में सबसे अधिक प्रभावशाली चन्द्रगुप्त द्वितीय थे, क्योंकि शकों को भारत से बाहर निकाल देने वाले विक्रमादित्य उपाधिधारी इन्हीं के राज्य-काल में हर तरह से शान्ति थी तथा भारतीय कलाकौशल की उन्नति चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी। कालिदास के ग्रन्थों के समान गम्भीर विचार के ग्रन्थ ऐसे ही शान्तिमय समय में स्थिर चित्त से लिखे जा सकते हैं।

समीक्षा—कालिदास को गुप्तकाल के स्वर्णयुग का कवि मानना ठीक नहीं, क्योंकि केवल चन्द्रगुप्त द्वितीय ही विक्रमादित्य नहीं थे, किन्तु इनसे पूर्व मालवा में राज्य करनेवाले विक्रमादित्य का भी पता इतिहास को है। दूसरी बात यह है कि यदि कालिदास गुप्तकाल में

होते तो प्रयाग के समुद्रगुप्त के स्तम्भ पर कालिदास की रचना न होकर साधारण विद्वान् हरिसेन से क्यों लिखवाया जाता? अतः कालिदास को गुप्तकाल में मानना सर्वथा असंगत है।

तीसरा मत—उपर्युक्त कल्पनाओं से असन्तुष्ट होकर कुछ विद्वानों ने ६८ई० की गाथा-सप्तशती के पद्यों में दानशील राजा विक्रमादित्य के स्पष्ट उल्लेख मिलने के आधार पर ईसा के पूर्व विक्रमादित्य की सत्ता प्रामाणिक रूप से स्थिर मान ली है। इनके शकारि होने में भी किसी प्रकार की आपत्ति नहीं, क्योंकि ईसा से १५० वर्ष पूर्व भारत में आने वाले शकों का पता इतिहास में पाया जाता है। अतः इन्हीं की सभा में कालिदास की सत्ता मानना युक्तियुक्त एवं प्रामाणिक प्रतीत होता है। इस मत के तर्क एवं प्रमाण विश्वसनीय हैं।

इसीलिए वल्लालसेन ने अपने भोज-प्रबन्ध में विक्रम संवत् के प्रवर्तक उज्जयिनी के राजा शकारि वीर विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में कविवर कालिदास की भी गणना की है, जिनके विना उनको एक क्षण भी अच्छा नहीं लगता था और इनकी अद्भुत कविकल्पना पर वे सदा मुग्ध रहा करते थे—

धन्वतरि–क्षपणकामरसिंह–शङ्कु–वेतालभट्ट–घटखर्पर–कालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरोनृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥

कालिदास के ग्रन्थों से भी राजा विक्रमादित्य के दरबार में रहने का सङ्केत मिलता है। अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक की प्रस्तावना में रस एवं भाव का चमत्कार दिखाने वाले कलाकारों के आश्रयदाता विक्रमादित्य की अभिरूप भूयिष्ठ परिषद् में उस नाटक के अभिनय करने का संकेत है—'आर्ये! इयं हि रसभावविशेषदीक्षागुरोर्विक्रमादित्यस्याभिरूपभूयिष्ठा परिषद्।' और विक्रमोर्वशीय नाटक में यद्यपि पुरूरवा नायक है तथापि विक्रम का स्पष्ट नामोल्लेख है—'अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः'। इत्यादि वचनों से इसकी पुष्टि होती है कि कालिदास का विक्रमादित्य से सम्बन्ध अवश्य था।

रामचन्द्र काव्य में तो स्पष्ट उल्लेख है कि शकाराति वीर विक्रमादित्य ने कालिदास की बड़ी ख्याति की थी—ख्यातिं कामपि कालिदासकवयो नीताः शकारातिका। अतः कालिदास राजा विक्रमादित्य की सभा के नव रत्नों में एक महारत्न अवश्य थे। जनश्रुति भी इसी मत की पुष्टि करती है—नह्यमूला जनश्रुतिः।

इसी प्रकार किसी ने इन्हें बङ्गाली, कुछ ने काश्मीरी, कतिपय विद्वानों ने मालव निवासी सिद्ध करने की चेष्टा की है। कालिदास के यशस्वी जीवन तथा उनकी अनुपम भारती का गुणगान करने में जितनी उत्सुकता भारतीय विद्वानों में है, उससे किसी भी अंश में विदेशी विद्वान् पीछे नहीं हैं। इनका अनुपम काव्य-कौशल इनके व्यक्तित्व का वास्तविक परिचायक है। इनकी प्रतिभा से निःसृत अमृतकणों का पानकर सबको प्रसन्नता होती है। अतः ये सबके मान्य कवि हैं।

कालिदास की कृतियाँ

महाकवि कालिदास के जन्म एवं जीवनी के विषय में जिस प्रकार मतभेद रहा है वैसे ही उनकी कृतियों के सम्बन्ध में भी कम विवाद नहीं है। कुछ दिन पहले कालिदास

नामधारी दूसरे व्यक्तियों की कृतियों को इनके नाम से जोड़ देने के सम्बन्ध में काफी विवाद रहा है, किन्तु इधर आधुनिक विद्वानों की खोजों के आधार पर प्रमुख रूप से कालिदास की निम्नाङ्कित कृतियाँ मानी जाती हैं—दो महाकाव्य—(१) रघुवंश, (२) कुमारसम्भव। तीन नाटक—(क) अभिज्ञानशाकुन्तल, (ख) विक्रमोर्वशीय, (ग) मालविकाग्निमित्र। एक खण्ड काव्य—मेघदूत तथा एक मुक्तककाव्य—ऋतुसंहार। शृङ्गारतिलक के इनके कृतित्व में समीक्षकों को सन्देह है।

रघुवंश की विशेषता

रघुवंश में महाकाव्य के सभी लक्षण घटते हैं। इसके १९ सर्गों में कवि कालिदास ने इक्ष्वाकुवंशी महाप्रतापी राजा दिलीप से लेकर अग्निवर्ण तक २० राजाओं का आदर्शमय वर्णन किया है। यद्यपि इस काव्य की कथा वाल्मीकिरामायण, महाभारत तथा पद्म आदि पुराणों में पायी जाती है, पर वाल्मीकि से अधिक समता; फिर भी वाल्मीकिरामायण और रघुवंश के वंशक्रम में महान् अन्तर है। वा० रा० आदि काण्ड, सर्ग ७० के १९–४३ श्लोकों के अनुसार दिलीप से राम तक १८ राजाओं का नाम निर्दिष्ट है; किन्तु रघुवंश में दिलीप से राम तक ५ ही पीढ़ी पड़ती है (१) दिलीप, (२) रघु, (३) अज, (४) दशरथ और (५) राम।

रघुवंश महाकाव्य की संस्कृत व्याख्याओं में मल्लिनाथ की सञ्जीविनी व्याख्या सर्वोत्कृष्ट तथा प्रामाणिक मानी जाती है। अतः इस संस्करण में सञ्जीविनी व्याख्या भी दी गई है और परीक्षार्थी छात्रों की सुविधा के लिए अन्वय, संस्कृत में व्याख्या, समास, भावार्थ तथा हिन्दी में भाषार्थ भी दे दिया गया है जिससे यह ग्रन्थ और भी सुबोध एवं उपादेय हो गया है। आशा है, छात्रवर्ग व्याख्याकार तथा प्रकाशक के प्रयास को अवश्य सफल बनायेगा। इति शम्।

विजयादमी
सं० २०३२

वशंवद
श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी

कथासार

राक्षसराज रावण के वध के बाद मर्यादापुरुषोत्तम भगवान राम ने अग्निपरीक्षा में विशुद्ध सीताजी को स्वीकार कर तथा लङ्का के राज्य पर रावण के भाई विभीषण को अभिषिक्त कर प्रिय पत्नी सीता, भ्राता लक्ष्मण, कपीश्वर सुग्रीव, भक्त हनुमान् जी, विचक्षण विभीषण तथा वानर एवं भालुओं के साथ पुष्पक विमान पर आरूढ होकर अयोध्या के लिए प्रस्थान करते समय मार्ग में सीता जी को तत्तद् स्थानों को दिखाते हुए उनका मनोरम वर्णन किया था। श्रीराम ने पहले अपने पूर्वजों से संवर्द्धित फेनिल समुद्र, उसकी तटभूमि, वायु एवं मेघमार्ग का आकर्षक वर्णन करने के बाद उस दण्डकारण्य को दिखाया, जहाँ राक्षसों के भय से वल्कलधारी तपस्वियों ने पहले निवास करना छोड़ दिया था, फिर उस स्थान को बताया जहाँ रावण द्वारा हरण के समय उनके पैर से गिरा हुआ एक नूपुर प्राप्त हुआ था और लताओं ने अपने पल्लवों को हिलाकर, मृगियों ने दक्षिण की तरफ मुँह कर सीता जी के जाने का संकेत किया था। बाद माल्यवान् पर्वत तथा उस पम्पासर का सुन्दर वर्णन किया है, जिसके जल की मनोहरता के कारण उनकी दृष्टि उसे छोड़ना नहीं चाहती थी। अनन्तर सारस पक्षियों से पूर्ण गोदावरी नदी, पञ्चवटी, स्वर्ग से राजा नहुष को च्युत करने वाले अगस्त्य जी का आश्रम, शातकर्णि मुनि का पञ्चाप्सर नामक सरोवर, सुतीक्ष्ण मुनि, शरभङ्ग मुनि के आश्रम, गगनचुम्बी विचित्र चित्रकूट, निर्मल मन्दाकिनी नदी, अत्रि मुनि के शान्त तपःस्थान एवं अनसूया जी द्वारा लायी गई गङ्गाजी का वर्णन है। तीर्थराज प्रयाग में गङ्गा-यमुना के सङ्गम का मनोहर एवं साहित्यिक वर्णन के पश्चात् निषादराज की निवासभूमि शृंगवेरपुर के परिचय के अनन्तर धाई के रूप में मानसरोवर से निर्गत सरयू नदी का सुन्दर वर्णन किया है।

इसके बाद श्रीराम ने कहा—सीते ! पृथ्वी से उठती हुई जो सामने धूलि दिखलाई दे रही है, इससे मालूम पड़ता है कि हनुमान् जी से मेरे आगमन का समाचार सुनकर भरत सेना के साथ मेरी अगवानी करने के लिए आ रहे हैं। जैसे युद्ध में खरदूषण, त्रिशिरा आदि को मारकर लौटे हुए मुझको लक्ष्मण ने संरक्षित तथा निर्दोष तुम्हें सौंप दिया था, उसी प्रकार भरत भी पिता की प्रतिज्ञा का पालन करने वाले मुझको संरक्षित तथा निर्दोष राज्यलक्ष्मी को सौंप देंगे।

वैदेही ! यह देखो, वल्कलवस्त्रधारी भरत पैदल ही गुरु वशिष्ठ जी को आगे एवं सेना को पीछे रखकर वृद्ध मन्त्रियों के साथ स्वयं हाथ में अर्घ्यपात्र लेकर स्वागत करने के लिए मेरे पास आ रहे हैं। ये पिताजी से प्राप्त राज्यलक्ष्मी को तरुण होते हुए भी मेरी भक्ति से भोग के बिना चौदह वर्षों से दुष्कर आचरण कर रहे हैं। रामचन्द्र जी के ऐसा कहने के

बाद ही उनकी इच्छा से चलने वाला वह पुष्पक विमान भरत के अनुगामियों द्वारा देखते-देखते आकाश-मण्डल से सहसा भूमि पर उतर पड़ा। बाद श्रीराम ने सेवा में निपुण वानरराज सुग्रीव के हाथ का सहारा लेकर आगे-आगे चलते हुए विभीषण द्वारा प्रदर्शित सोपान-मार्ग से उस पुष्पक विमान से जमीन पर उतरकर कुलाचार्य वसिष्ठजी को प्रणाम करने के बाद भरत के अर्घ्य को स्वीकार करते हुए आनन्दाश्रुओं के साथ उनका आलिङ्गन किया, और कुशल प्रश्न आदि से उन मन्त्रियों को अनुगृहीत किया, जो उनके वियोग में दाढ़ी-मूँछ बढ़ाकर जटावान् बरगद वृक्ष के समान विकृत मुख हो गये थे।

अनन्तर श्री राम ने भरत को सुग्रीव एवं विभीषण का परिचय देते हुए कहा—ये मेरे आपत्ति के बान्धव वानर और भालुओं के राजा सुग्रीव हैं तथा ये मेरे शत्रुओं पर प्रथम प्रहार करने वाले विभीषण हैं। यह सुन भरत जी ने सुग्रीव एवं विभीषण का अभिवादन आदि से सत्कार करने के बाद नतमस्तक हुए लक्ष्मण जी का सस्नेह गाढ़ आलिङ्गन किया। बाद रामचन्द्र जी की आज्ञा से सुग्रीव आदि वानरों ने कामरूपी होने के कारण मनुष्य-शरीर धारण कर बड़े-बड़े हाथियों पर सवार होकर पहाड़ों पर चढ़ने के सुख का अनुभव किया। अनुचरों के सहित विभीषण आदि श्रीराम के आदेश से उत्तम रथों पर आरूढ़ हुए। अनन्तर रामचन्द्र जी, भरत एवं लक्ष्मण के साथ शोभित पताकायुक्त इच्छानुगामी पुष्पक विमान पर वैसे ही आरूढ़ हुए जैसे बुध एवं बृहस्पति के संगति से दर्शनीय तारापति चन्द्रमा रात में चञ्चल बिजली वाले मेघ पर आरूढ़ होते हैं। विमान पर ही भरत जी ने प्रलयकाल में आदि वराह द्वारा उद्धृत पृथ्वी के समान श्रीराम द्वारा रावण के सङ्कट से उद्धृत सीता जी की पादवन्दना की। रावण की प्रणय प्रार्थना को ठुकराने से परम पवित्र एवं वन्दनीय पतिव्रता सीता जी का चरणयुगल तथा भ्राता राम के अनुसरण से जटायुक्त भरत जी का मस्तक ये दोनों मिलकर एक दूसरे को परम पवित्र करनेवाले हुए। बाद श्रीराम की शोभायात्रा आरम्भ हुई।

श्रीराम ने जिनके आगे-आगे अयोध्या के प्रजाजन चल रहे थे, ऐसे मन्दगति वाले पुष्पक विमान से आधा कोस जाकर शत्रुघ्न द्वारा सजाये गये तम्बू आदि से युक्त अयोध्या के सुन्दर उपवनों में सपरिवार निवास किया।

॥ श्री ॥

रघुवंशमहाकाव्यम्

'विमला'–'चन्द्रकला' संस्कृत–हिन्दीव्याख्योपेतम्

त्रयोदशः सर्गः

त्रैलोक्यशल्योद्धरणाय सिन्धोश्चकार बन्धं मरणं रिपूणाम् ।
पुण्यप्रणामं भुवनाभिरामं रामं विरामं विपदामुपासे ॥

अथ कविकुलकलाधरः कविताकामिनीवाग्विलासो महाकविः कालिदासो रावणवधविभीषणाभिषेकान्तरं पुष्पकविमानमारुह्यायोध्यायां परावर्तमानस्य ससेनस्य भगवतो रामस्य यात्राप्रकारं वर्णयितुमुपक्रमते—

अथात्मनः शब्दगुणं गुणज्ञः पदं विमानेन विगाहमानः ।
रत्नाकरं वीक्ष्य मिथः स जायां रामाभिधानो हरिरित्युवाच ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ गुणज्ञः सः रामाभिधानः हरिः शब्दगुणं आत्मनः पदं विमानेन विहागमानः (सन्) रत्नाकरं वीक्ष्य मिथः जायाम् इति उवाच ।

सञ्जीविनी—अथ प्रस्थानानन्तरम् । जानातीति ज्ञः । 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इत्यनेन कप्रत्ययः । गुणानां ज्ञो गुणज्ञः । रत्नाकरादिवर्ण्यैश्वर्यगुणाभिज्ञ इत्यर्थः । स रामाभिधानो हरिर्विष्णुः । शब्दो गुणो यस्य तच्छब्दगुणमात्मनः स्वस्य पदं विष्णुपदम् । आकाशमित्यर्थः । 'वियद्विष्णुपदम्' इत्यमरः । 'शब्दगुणमाकाशम्' इति तार्किकाः । विमानेन पुष्करेण विगाहमानः सन् रत्नाकरं समुद्रं वीक्ष्य मिथो रहसि । 'मिथोऽन्योन्यं रहस्यपि' इत्यमरः । जायां पत्नीं सीतामिति वक्ष्यमाण-प्रकारेणोवाच । रामस्य हरिरित्यभिधानं निरङ्कुशमहिमद्योतनार्थम् । मिथो ग्रहणं गोष्ठीविश्रम्भसूचनार्थम् ।

व्याख्या—अथ = लङ्कातः प्रस्थानानन्तरम् । गुणज्ञः = रत्नाकरादिवर्णनीय-पदार्थानां गुणज्ञाता । सः रामाभिधानः=रामनामधेयः । हरिः=विष्णुः । शब्द-गुणं = शब्दगुणकम् । आत्मनः पदं = स्वस्थानमाकाशम् । विमानेन=व्योमयानेन

पुष्पकविमानेन। विगाह्मानः = प्रविशन् सन्। रत्नाकरं = समुद्रम्। वीक्ष्य = अवलोक्य। मिथः = परस्परम् जायां = भार्यां, जनकनन्दिनीं सीताम्। इति = वक्ष्यमाणं वचः। उवाच = अवोचत्।

समासः—गुणं जानातीति गुणज्ञः। रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति रामः, रामः अभिधानं यस्य स रामाभिधानः। शब्दो गुणः यस्य तत् शब्दगुणम्। हरति पापं जनानामिति हरिः। विगाहते इति विगाह्मानः। रत्नानामाकरः रत्नाकरः तं रत्नाकरम्।

भावार्थः—स्वजनपरिजनसैनिकैः सह पुष्पकविमानमारुह्य लङ्कातोऽयोध्या-प्रस्थानानन्तरं मार्गे प्रथमं समुद्रमवलोक्य भगवान् रामः स्वां प्रियां सीतां प्रति वक्ष्यमाणं वच उवाचेति भावः।

भाषार्थ—इसके बाद विमान पर चढ़कर उस आकाश में चलते हुए, जिसका गुण केवल शब्द है, गुणी एवं राम कहलाने वाले भगवान् विष्णु समुद्र को देखकर अपनी प्रिया सीता से यह कहने लगे ॥ १ ॥

वैदेहि पश्याऽऽमलयाद्विभक्तं मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम्।
छायापथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृतचारुतारम् ॥ २ ॥

अन्वयः—हे वैदेहि ! आमलयात् मत्सेतुना विभक्तं फेनिलं अम्बुराशिं छायापथेन (विभक्तं) शरत्प्रसन्नं आविष्कृतचारुतारं आकाशम् इव पश्य।

सञ्जी०—हे वैदेहि सीते ! आमलयान्मलयपर्यन्तम्। 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' इति पञ्चमी। पदद्वयं चैतत्। मत्सेतुना विभक्तं द्विधा कृतम्। अत्यायतसेतुनेत्यर्थः। हर्षाधिक्याच्च मद्ग्रहणम्। फेनिलं फेनवन्तम्। 'फेनादिलच्च' इतिलच्प्रत्ययः। क्षिप्रकारी चायमिति भावः। अम्बुराशिं छायापथेन विभक्तं शरत्प्रसन्नमाविष्कृत-चारुतामाकराशमिव पश्य। मम महानयं प्रयासस्त्वदर्थं इति हृदयम्। छायापथो नाम ज्योतिष्चक्रमध्यवर्ती कश्चित्तिरश्चीनोऽवकाशः।

व्याख्या—हे वैदेहि=विदेहतनये सीते ! आमलयात् = मलयपर्वतपर्यन्तम्। मत्सेतुना=मदल्या। विभक्तं = द्विधाकृतम्। फेनिलं = फेनवन्तम्। अम्बुराशिं= समुद्रम्। छायापथेन = आकाशस्थानभेदेन। विभक्तम्। शरत्प्रसन्नं = शरदृतु-निर्मलम्। आविष्कृतचारुतारम् = प्रादुर्भूतसुन्दरनक्षत्रम्। आकाशमिव = अम्बर-मिव। पश्य = विलोकय।

समासः—पुराणेषु सप्तसंख्याकाः कुलपर्वता उक्ताः सन्ति। तेषु मलयपर्वतोऽ-प्यन्यतमोऽस्ति। यथा—

'महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः ।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः ।।

मलयम् आ इति आमलयं तस्मात् आमलयात् । फेनाः सन्ति अस्मिन् इति फेनिलः त फेनिलम् । मम सेतुः मत्सेतुः तेन मत्सेतुना । अम्बूनां राशिः अम्बुराशिः तम् अम्बुराशिम् । शरदि प्रसन्नं शरत्प्रसन्नं तत् शरत्प्रसन्नम् । छाया युक्तः पन्था इति छायापथं तेन छायापथेन । चारवः ताराः चारुतारा आविष्कृताः चारुतारा यस्मिन् तत् आविष्कृतचारुतारं तत् ।

भावार्थः—अयि जनकनन्दिनि ! मलयपर्वतपर्यन्तं लम्बायमानेन सेतुना द्विधाकृतं फेनिलं महोदधिं शरदर्तौ आकाशगङ्गया द्विधा विभक्तं निर्मलाभिः ताराभिः व्याप्तं विस्तृतं व्योम इव निरीक्षस्वेति भावः ।

भाषार्थ—हे जनकनन्दिनि ! फेन से भरे हुए इस समुद्र को तो देखो, जिसे मेरे बनाये हुए पुल ने मलय पर्वत तक इस प्रकार दो भागों में बाँट दिया है जिस प्रकार सुन्दर ताराओं से भरे हुए शरद् ऋतु के खुले आकाश को आकाशगंगा दो भागों में बाँट देती है ।। २ ।।

गुरोर्यियक्षोः कपिलेन मेध्ये रसातलं संक्रमिते तुरङ्गे ।
तदर्थमुर्वीमवदारयद्भिः पूर्वैः किलायं परिवर्धितो नः ॥ ३ ॥

अन्वयः—यियक्षोः गुरोः मेध्ये तुरङ्गे कपिलेन रसातलं संक्रमिते (सति) तदर्थम् उर्वीं अवदारयद्भिः नः पूर्वैः अयं परिवर्धितः किल ।

सञ्जी०—यियक्षोर्यष्टुमिच्छोः । यजेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । गुरोः सगरस्य मेध्येऽश्वमेधार्हे तुरङ्गे हये कपिलेन मुनिना रसातलं पातालं संक्रमिते सति तदर्थमुर्वीमवदारयद्भिः खनद्भिर्नोऽस्माकं पूर्वैर्वृद्धैः सगरसुतैरयं समुद्रः परिवर्धितः किल । किलेत्यैतिह्ये । अतो नः पूज्य इति भावः । यद्यपि तुरङ्गहारी शतक्रतुस्तथापि तस्य कपिलसमीपे दर्शनात् स एवेति तेषां भ्रान्तिः तन्मत्वैव कविना कपिलेनेति निर्दिष्टम् ।

व्याख्या—यियक्षोः = अश्वमेधाख्ययज्ञं कर्तुमिच्छोः । गुरोः = सगरस्य । मेध्ये = अश्वमेधार्हे । तुरङ्गे = अश्वे । कपिलेन = कपिलमुनिना (इन्द्रेण) । रसातलं = पातालम् । संक्रमिते = प्रापिते सति । तदर्थं = अश्वार्थम् । उर्वीं = पृथिवीम् । अवदारयद्भिः = खनद्भिः । नः = अस्माकम् । पूर्वैः=पूर्वजैः । अयं = अम्बुराशिः । परिवर्द्धितः=संवर्धितः । किल=खलु ।

समासः—यष्टुमिच्छतीति यियक्षुः तस्य यियक्षोः। अवदारयन्तीति अवदारयन्तः तैः अवदारयद्भिः । रसायाः तलं रसातलम् ।

भावार्थः—प्रिये ! अश्वमेधयज्ञं विधातुमुद्यतेन राज्ञा सगरेण यदा यज्ञीयोऽश्वो विसृष्टः तदा तमपहृत्य इन्द्रेण कपिलस्य पार्श्वे निबद्धः । तदन्वेषणप्रसङ्गेन पृथ्वीं निखनद्भिः मम पूर्वजैः सगरतनयैः एव सागरो वर्द्धितः इति भावः ।

भाषार्थ—सीते ! जानती हो, यह समुद्र कैसे बना है ? सुनो, जब हमारे पूर्वज महाराज सगर अश्वमेध यज्ञ कर रहे थे तब इन्द्र ने उस यज्ञ सम्बन्धी घोड़े को चुराकर पाताल में कपिल मुनि के पास बांध दिया । महाराज सगर के साठ हजार पुत्रों ने उस घोड़े की खोज करने के लिए सारी पृथ्वी को खोद डाला । उसी से यह समुद्र इतना बड़ा लम्बा-चौड़ा बन गया इसलिए यह हम लोगों का पूज्य है ।। ३ ।।

गर्भं दधत्यर्कमरीचयोऽस्माद्विवृद्धिमत्राश्नुवते वसूनि ।
अबिन्धनं वह्निमसौ बिभर्ति प्रह्लादनं ज्योतिरजन्यनेन ॥ ४ ॥

अन्वयः—अर्कमरीचयः अस्मात् गर्भं दधति अत्र वसूनि विवृद्धिं अश्नुवते, असौ अबिन्धनं वह्निं बिभर्ति, अनेन प्रह्लादनं ज्योतिः अजनि ।

सञ्जी०—अर्कमरीचयोऽस्मादब्धेः अपादानात् गर्भमम्मयं दधति । वृष्ट्यर्थमित्यर्थः । अयमर्थो दशमसर्गे "ताभिर्गर्भः०" इत्यर्थः स्पष्टीकृतः । अयं लोकोपकारीति भावः । अत्राब्धौ वसूनि धनानि । 'धने रत्ने वसुः स्मृतम्' इति विश्वः । विवृद्धिमश्नुवते प्राप्नुवन्ति । संपद्वानित्यर्थः । असौ। आप इन्धनं दाह्यं यस्य तद्दाहकं वह्निं बिभर्ति । अपकारेऽप्याश्रितं न त्यजतीति भावः । अनेन प्रह्लादनमाह्लादकं ज्योतिश्चन्द्रोऽजनि जनितम् । जनेर्ण्यन्तात्कर्मणि लुङ् । सौम्य इति भावः ।

व्याख्या—अर्कमरीचयः = भास्करकिरणाः । अस्मात् = समुद्रात् । गर्भं = जलमयं कोषम् । दधति = वृष्ट्यर्थं धारयन्ति । अत्र = समुद्रे । वसूनि=धनानि । विवृद्धि=समृद्धिम् । अश्नुवते = प्राप्नुवन्ति । असौ = समुद्रः । अबिन्धनं = जलदाहकम् । वह्नि=अनलम् । बिभर्ति = धारयति । अनेन = समुद्रेण । प्रह्लादनं = आह्लादकम् । ज्योतिः = प्रकाशकश्चन्द्रः । अजनि = जनितम् ।

समासः—अर्कस्य मरीचयः अर्कमरीचयः । विशिष्टा वृद्धिः विवृद्धिः तां विवृद्धम् । आपः इन्धनं यस्यासौ अबिन्धनः तम् अबिन्धनम् ।

भावार्थः—सूर्यरश्मयो हि सागरादेवापो गृह्णन्ति । अस्मादेव विविधानि

रत्नानि समुद्भवन्ति। सागरे एव वडवानलो विराजते। चन्द्रमस उद्भवोऽपि समुद्रादेवाजायतेति भावः।

भावार्थ—यह समुद्र बड़े काम का है; देखो, इसी में से सूर्य की किरणें जल खींचती हैं और पृथ्वी पर बरसाती हैं। इसी में रत्न बढ़ते हैं, यह अपनी गोद में अपने शत्रु बडवानल को भी पालता है और इसी ने संसार के प्रकाशक चन्द्रमा को उत्पन्न किया है ॥ ४ ॥

तां तामवस्थां प्रतिपद्यमानं स्थितं दश व्याप्य दिशो महिम्ना।
विष्णोरिवास्यानवधारणीयमीदृक्तया रूपमियत्तया वा ॥ ५ ॥

अन्वयः—तां ताम् अवस्थां प्रतिपद्यमानं, महिम्ना दश दिशः व्याप्य स्थितम् विष्णोः इव अस्य रूपं ईदृक्तया इयत्तया वा अनवधारणीयम् (अस्ति)।

सञ्जी०—तां तामनेकाम्। 'नित्यवीप्सयोः' इति वीप्सायां द्विरुक्तिः। अवस्थामक्षोभाद्यवस्थां विष्णुपक्षे सत्त्वाद्यवस्थां प्रतिपद्यमानं भजमानं महिम्ना दश दिशो व्याप्य स्थितं विष्णोरिवास्य रत्नाकरस्य रूपं स्वरूपमुक्तरीत्या बहुप्रकारत्वाद्व्यापकत्वाच्चेदृक्तया, इयत्तया वा प्रकारतः परिमाणतश्चानवधारणीयं दुर्निरूपम्।

व्याख्या—तां तां=विविधप्रकारम्। अवस्थां = स्थितिम्। प्रतिपद्यमानं = भजमानम्। महिम्ना = महत्त्वेन। दश = दशसंख्याकाः। दिशः = आशाः। व्याप्य = व्याप्तिं विधाय। स्थितं = वर्तमानम्। विष्णोरिव = भगवतो हरेरिव। अस्य = समुद्रस्य। रूपं = स्वरूपम्। इदृक्तया = ईदृशत्वेन। इयत्तया वा = इदं परिमाणत्वेन वा। अनवधारणीयम् = निश्चेतुमशक्यः।

समासः—प्रतिपद्यते इति प्रतिपद्यमानम्। अयमिव दृश्यते इति ईदृक्, इदृशः भावः ईदृक्ता तया ईदृक्तया। अवधारयितुं योग्यमवधारणीयम् न अवधारणीयम् अनवधारणीयम्। वेवेष्टि सर्वमिति विष्णुः तस्य विष्णोः।

भावार्थः—विविधामवस्थां प्रतिपद्यमानस्य विशालतया सकला अपि दिशो व्याप्तवतोऽस्य समुद्रस्य वास्तविकं स्वरूपं भगवतो विष्णोरिव निर्णेतुं न शक्यते। अर्थादस्य वास्तविकं स्वरूपं न निश्चेतुं शक्यमस्तीति भावः।

भाषार्थ—यह समुद्र सदा अपना रूप भी बदलता रहता है और यह इतना बड़ा है कि दशों दिशाओं में दूर तक फैला हुआ है, इसलिए जिस प्रकार भगवान् विष्णु के विषय में यह नहीं कहा जा सकता है कि वे ऐसे और इतने बड़े

हैं उसी प्रकार इसके विषय में नहीं कहा जा सकता है कि यह ऐसा और इतना बड़ा है ॥ ५ ॥

नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनेन संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा ।
अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान्पुरुषोऽधिशेते ॥ ६ ॥

अन्वयः—युगान्तोचितयोगनिद्रः पुरुषः लोकान् संहृत्य नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनेन प्रथमेन धात्रा संस्तूयमानः (सन्) अमुम् अधिशेते ।

सञ्जी०—युगान्ते कल्पान्त उचिता परिचिता योगाः स्वात्मनिष्ठैव निद्रेव निद्रा यस्य स पुरुषो विष्णुर्लोकान् भूर्भुवादीन् संहृत्य नाभ्यां प्ररूढं यदम्बुरुहं पद्मं तदासनेन तन्नाभिकमलाश्रयेण प्रथमेन धात्रा दक्षादीनामपि स्रष्ट्रा पितामहेन संस्तूयमानः सन् अमुमधिशेते । अमुष्मिञ्छेत इत्यर्थः। कल्पान्तेऽप्यस्तीति भावः ।

व्याख्या—युगान्तोचितयोगनिद्रः=कल्पान्ते कृतशयनः । पुरुषः=पुराणपुरुषः आदिनारायणो भगवान् विष्णुः । लोकान् = समस्तान् भूर्भुवादीन् । संहृत्य = आत्मनि संयम्य । नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनेन = नाभ्याविर्भूतपद्मासनेन । प्रथमेन = मुख्येन । धात्रा = विधात्रा, ब्रह्मणा । संस्तूयमानः = प्रणूयमानः सन् । अमुं = समुद्रम् । अधिशेते=प्रलयकाले शेते ।

समासः—युगानामन्तः युगान्तः युगान्ते उचिता निद्रा यस्य स युगान्तोचितयोगनिद्रः । नाभ्यां प्ररूढं नाभिप्ररूढम्, अम्बूनि रोहन्तीति अम्बूरुहानि नाभिप्ररूढं च तत् अम्बूरुहमिति नाभिप्ररूढाम्बुरुह नाभिप्ररूढाम्बुरुहं आसनं यस्य स नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनः तेन नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनेन। संस्तूयते इति संस्तूयमानः।

भावार्थः—आदिनारायणो भगवान् विष्णुर्हि प्रलये समुपस्थिते समस्तान् लोकान् आत्मनि संहृत्य योगनिद्रामवलम्ब्य ब्रह्मदेवेन संस्तूयमानोऽत्र सागरे एव शयनं करोतीति भावः ।

भाषार्थ—प्रलयकाल में जब आदिपुरुष भगवान् विष्णु संसार का संहारकर चुकते हैं तब यहीं आकर योगनिद्रा में सोते हैं और उनके नाभिकमल से निकले हुए ब्रह्मा सदा उनकी स्तुति किया करते हैं । अर्थात् यह प्रलयकाल में भी नष्ट नहीं होता ॥ ६ ॥

पक्षच्छिदा गोत्रभिदात्तगन्धाः शरण्यमेनं शतशो महीध्राः ।
नृपा इवोपप्लविनः परेभ्यो धर्मोत्तरं मध्यममाश्रयन्ते ॥ ७ ॥

अन्वयः—पक्षच्छिदा गोत्रभिदा आत्तगन्धाः महीध्राः शतशः शरण्यं एनं परेभ्यः उपप्लविनः धर्मोत्तरं मध्यमं इव आश्रयन्ते ।

सञ्जी०—पक्षच्छिदा गोत्रभिदेन्द्रेण। उभयत्र 'सत्सूद्विष०' इत्यादिना क्विप्। आत्तगन्धा हृतगर्वाः। अभिभूता इत्यर्थः। गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धगर्वयोः' इति विश्वः। 'आत्तगन्धोऽभिभूतः स्यात्' इत्यमरः। महीं धारयन्तीति महीध्राः पर्वताः। मूलविभुजादित्वात्कप्रत्ययः। शतं शतं शतशः शरण्यं रक्षणसमर्थमेनं समुद्रं परेभ्यः शत्रुभ्य उपप्लविनो भयवन्तो नृपा धर्मोत्तरं धर्मप्रधानं मध्यमं मध्यमभूपालमिव आश्रयन्ते। 'अरेश्च विजीगीषोश्च मध्यमो भूम्यनन्तर.' इति कामन्दकः। आर्तबन्धुरिति भावः।

व्याख्या—पक्षच्छिदा=पक्षछेदनतत्परेण। गोत्रभिदा=गिरिविदारकेन इन्द्रेण आत्तगन्धाः = हृतगर्वा हृताहङ्काराः। महीध्राः = कुध्राः, गिरयः। शरण्यं = रक्षणसमर्थम्। एनं = अमुमेव समुद्रम्। परेभ्यः = शत्रुभ्यः, उपप्लविनः = भयवन्तः। नृपाः = राजानः। धर्मोत्तरं = धर्मप्रधानम्। मध्यमभूपालमिव। आश्रयन्ते=अवलम्बन्ते।

समासः—पक्षान् छिनत्तीति पक्षच्छित् तेन पक्षच्छिदा। गोत्रं भिनत्तीति गोत्रभित् तेन गोत्रभिदा। आत्तः गन्धो येषां ते आत्तगन्धाः। महीं धारयन्तीति महीध्राः। उपप्लवोऽस्ति येषां ते उपप्लविनः। नॄन् पान्तीति नृपाः। मध्ये भवः मध्यमः तं मध्यमम्। धर्मः उत्तरो यस्य स धर्मोत्तरः तं धर्मोत्तरम्।

भावार्थः—पर्वतपक्षशातनायोद्यतेन महेन्द्रेणाभिभूता भयोद्विग्ना बहवः पर्वता एनमेव समुद्र राजानो धर्मप्रधानं मध्यमभूपालमिवाश्रयन्ते। मध्यमभूपालस्य लक्षणं कुर्वता कामन्दकेन स्वनीतिसारे प्रोक्तमस्ति यत् शत्रुविजयाभिलाषिणीः नृपयोः देशस्य समीपवर्ती राजा मध्यमो भूपालः प्रोच्यते—'अरेश्च विजिगीषोश्च मध्यमो भूम्यनन्तरः।

भाषार्थ—जिस प्रकार शत्रुओं से आक्रान्त होकर राजा लोग किसी धर्मात्मा और शरणागतरक्षक राजा का आश्रय लेते हैं उसी प्रकार उन सैकड़ों पहाड़ों ने भी इसकी शरण ली थी जिनके पंखों को काटकर इन्द्र ने उनका अभिमान चूर कर दिया था ॥ ७ ॥

रसातलादादिभवेन पुंसा भुवः प्रयुक्तोद्वहनक्रियायाः।
अस्याच्छमम्भः प्रलयप्रवृद्धं मुहूर्तवक्त्राभरणं बभूव ॥ ८ ॥

अन्वयः—आदिभवेन पुंसा रसातलात् प्रयुक्तोद्वहनक्रियायाः भुवः प्रलयप्रवृद्धं अस्य अच्छं अम्भः मुहूर्तवक्त्राभरणं बभूव।

सञ्जी०—आदिभवेन पुंसाऽऽदिवराहेण रसातलात्प्रयुक्तोद्वहनक्रियायाः कृतोद्धरणक्रियायाः। विवाहक्रिया च व्यज्यते। भुवो भूदेवतायाः प्रलये प्रवृद्धमस्याब्धेरच्छमम्भो मुहूर्तं वक्त्राभरणं लज्जारक्षणार्थं मुखावगुण्ठनं बभूव। तदुक्तम्—'उद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना' इति।

व्याख्या—आदिभवेन=पुरातनेन। पुंसा=पुरुषेण भगवता आदिवराहेण। रसातलात् = पातालात्। प्रयुक्तोद्वहनक्रियायाः = कृतोद्धरणकार्यायाः। भुवः= पृथिव्याः। प्रलयप्रवृद्धम्=कल्पान्तसमृद्धम्। अस्य=समुद्रस्य। अच्छं=स्वच्छम्। अम्भः=जलम्। मुहूर्तवक्त्राभरणं = क्षणमात्रमुखावगुण्ठनम्। बभूव = अजायत।

समासः—आदौ भवः आदिभवः तेन आदिभवेन। उद्वहनस्य क्रिया उद्वहनक्रिया तस्या उद्वहनक्रियायाः। प्रकृष्टो लयः प्रलयः प्रलये प्रवृद्धं प्रलयप्रवृद्धम्। वक्त्रस्याभरणं वक्त्राभरणं मुहूर्तं वक्त्राभरणमिति मुहूर्तवक्त्राभरणम्।

भावार्थः—आदिवराहेण रसातलादुद्धृतायाः पृथिव्या प्रवृद्धं समुद्रजलं क्षणमात्रं मुखावगुण्ठनमिवाजायतेति भावः।

भाषार्थ—सृष्टि के आरम्भ में जब आदिपुरुष भगवान् वराह पाताल से पृथ्वी का उद्धार कर ले जा रहे थे उस समय प्रलय से बढ़ा हुआ इसका स्वच्छ जल क्षणभर के लिए पृथ्वी का घूँघट सा बन गया था॥ ८॥

मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रगल्भाः स्वयं तरङ्गाधरदानदक्षः।
अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः पिबत्यसौ पाययते च सिन्धूः॥ ९॥

अन्वयः—अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः तरङ्गाधरदानदक्षः असौ मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रगल्भाः सिन्धूः स्वयं पिबति (तरङ्गाधरं) पाययते च।

सञ्जी०—अन्येषां पुंसां सामान्या साधारणा न भवतीत्यनन्यसामान्या कलत्रेण वृत्तिर्भोगरूपा यस्य स तथोक्तः। इममेवार्थं प्रतिपादयति—तरङ्ग एवाधरस्तस्य दाने समर्पणे दक्षश्चतुरोऽसौ समुद्रो मुखार्पणेषु प्रकृत्या सख्यादिप्रेषणं विना प्रगल्भा धृष्टाः सिन्धूर्नदीः। 'सिन्धुः समुद्रे नद्यां च' इति विश्वः। स्वयं पिबति पाययते च। तरङ्गाधरमिति शेषः। "न पादम्याङ्य०" इत्यादिना पिबतेर्ण्यन्तान्नित्यं परस्मैपदनिषेधः। "गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ०" इत्यादिना सिन्धूनां कर्मत्वम्। दम्पत्योर्युगपत् परस्पराधरपानमनन्यसाधारणमिति भावः।

व्याख्या—अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः = अनितरसाधारणसपत्नीव्यवहारः। तरङ्गाधरदानदक्षः=ऊर्म्योष्ठसमर्पणचतुरः। असौ=समुद्रः। मुखार्पणेषु=आननसमर्पणेषु, चुम्बनार्थम्। प्रकृतिप्रगल्भाः = स्वभावधृष्टाः। सिन्धूः = नदीः।

स्वयम्=आत्मना। पिबति=धयति, चुम्बति। पाययते=पानं कारयति, चुम्बनं कारयति च।

समासः—अन्येषां सामान्या न अनन्यसामान्या कलत्रस्य वृत्तिः कलत्रवृत्तिः अनन्यसामान्या कलत्रवृत्तिः यस्य स अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः। तरङ्ग एवाधरः तरङ्गाधरः तरङ्गाधरस्य दानं तरङ्गाधरदानं तरङ्गाधरदाने दक्ष इति तरङ्गाधरदानदक्षः। मुखानामर्पणानि मुखार्पणानि तेषु मुखार्पणेषु। प्रकृत्या प्रगल्भा इति प्रकृतिप्रगल्भाः।

भावार्थः—भार्यासु असाधारणवृत्तिः तरङ्गाधरसमर्पणनिपुणोऽयं महोदधिः चुम्बनार्थं मुखकमलसमर्पणेषु स्वभावधृष्टाः नदीः स्वयं चुम्बति ताश्च चुम्बनं कारयति। अर्थात्—समुद्रे नदीनां मुखार्पणेन समुद्रस्य च नदीषु तरङ्गार्पणेन नदीसमुद्रयोः नायकनायिकयोरिव चुम्बनं व्यवहारस्य समारोपोऽत्र वर्णित इति भावः।

भाषार्थ—प्रिये देखो, दूसरे लोग केवल स्त्रियों का अधर पान करते हैं; किन्तु अपना अधर उन्हें नहीं पिलाते; पर यह समुद्र उस विषय में भी औरों से बढ़कर है, क्योंकि जब ढीठ होकर नदियाँ चुम्बन के लिए अपना मुख इसके आगे बढ़ाती हैं तब यह बड़ी चतुरता से अपना तरंग रूप अधर उन्हें पिला देता है और उनका अधर स्वयं पीता है ॥ ९ ॥

ससत्त्वमादाय नदीमुखाम्भः संमीलयन्तो विवृताननत्वात्।
अमी शिरोभिस्तिमयः सरन्ध्रैरूर्ध्वं वितन्वन्ति जलप्रवाहान् ॥ १० ॥

अन्वयः—अमी तिमयः विवृताननत्वात् ससत्त्वं नदीमुखाम्भः आदाय संमीलयन्त सरन्ध्रैः शिरोभिः जलप्रवाहान् ऊर्ध्वं वितन्वन्ति।

सञ्जी०—अमी तिमयो मत्स्यविशेषः। तदुक्तम्—'अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम शतयोजनमायतः'। इति विवृताननत्वाद्व्यात्तमुखत्वाद्धेतोः। आननं विवृत्येत्यर्थः। ससत्त्वं मत्स्यादिप्राणिसहितं नदीमुखाम्भ आदाय सम्मीलयन्तश्चञ्चुपुटानि सङ्घट्टयन्तः सन्तः सरन्ध्रैः शिरोभिर्जलप्रवाहानूर्ध्वं वितन्वति। जलयन्त्रक्रीडासमाधिर्व्यज्यते।

व्याख्या—अमी = एते। तिमयः = मत्स्यविशेषाः। विवृताननत्वात्= व्यात्तमुखत्वात्। मुखं व्यावृत्य। ससत्त्वं=मत्स्यादिजलजन्तुसहितम्। नदीमुखाम्भः = सिन्धुमुखजलम्। आदाय = गृहीत्वा। सम्मीलयन्तः=सम्मीलनं कुर्वन्तः, चञ्चुपुटानि संघट्टयन्तः। सरन्ध्रैः=सच्छिद्रैः। शिरोभिः=मस्तकैः। जलप्रवाहान्=सलिलस्रोतांसि। ऊर्ध्वं=उपरिप्रदेशे। वितन्वति=विस्तारयन्ति।

समासः—विवृताननत्वात्—विवृतम् आननं येषां ते विवृताननाः विवृताननानां भावः विवृताननत्वम् तस्मात् विवृताननत्वात् । सत्त्वैः सहितं ससत्त्वं तत् ससत्त्वम् । नद्या मुखं नदीमुखं नदीमुखस्य अम्भः नदीमुखाम्भः । सम्मीलयन्तीति सम्मीलयन्तः । रन्ध्रैः सहितानि सरन्ध्राणि तैः सरन्ध्रैः । जलस्य प्रवाहा जलप्रवाहा तान् जलप्रवाहान् ।

भावार्थः—जनकतनये ! एते तिमिनामानो मत्स्या मुखं विवृत्य जलजन्तुसहितं जलमादाय स्वीयानि चञ्चुपुटानि संघट्टयन्तः छिद्रसहितैः शिरोभिः जलप्रवाहान् ऊर्ध्वं क्षिपन्तीति भावः ।

भाषार्थ—यह देखो, ये बड़ी-बड़ी मछलियाँ पहले अपना-अपना मुँह खोलकर अन्य जन्तुओं के सहित समुद्र का जल पी जाती हैं और फिर मुँह बन्द करके अपने मस्तकों के छिद्रों से फुहेरे के समान पानी की जलधारा छोड़ने लगती हैं ॥ १० ॥

मातङ्गनक्रैः सहसोत्पतद्भिर्भिन्नान्द्विधा पश्य समुद्रफेनान् ।
कपोलसंसर्पितया य एषां व्रजन्ति कर्णक्षणचामरत्वम् ॥ ११ ॥

अन्वयः—सहसोत्पतद्भिः मातङ्गनक्रैः द्विधा भिन्नान् समुद्रफेनान् पश्य ये कपोलसंसर्पितया कर्णक्षणचामरत्वं व्रजन्ति ।

सञ्जी०—सहसोत्पतद्भिर्मातङ्गनक्रैर्मातङ्गाकारैर्ग्राहैर्द्विधा भिन्नान्समुद्रफेनान् पश्य । ये फेनाः एषां जलमातङ्गनक्राणां कपोलेषु संसर्पितया संसर्पणेन हेतुना कर्णेषु क्षणं चामरत्वं व्रजन्ति ।

व्याख्या—अयि देवि ! सहसा=अतर्कित एव । उत्पतद्भिः=ऊर्ध्वं व्रजद्भिः । मातङ्गनक्रैः=गजाकारैर्मकरैः । द्विधा=प्रकारद्वयेन । भिन्नान्=विभक्तान् । समुद्रफेनान्=सागरफेनान् । पश्य=अवलोकय । ये=फेनाः । एषां =मातङ्गनक्राणाम् । कपोलसंसर्पितया=गण्डस्थलसंसर्पणेन । कर्णक्षणचामरत्वं =किञ्चित्कालं श्रोत्रचामरत्वम् । व्रजन्ति=प्राप्नुवन्ति ।

समासः—उत्पतन्तीति उत्पतन्तः तैः उत्पतद्भिः । मातङ्गाकारा नक्रा मातङ्गनक्राः तैः मातङ्गनक्रैः । द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां द्विधा । समुद्रस्य फेना समुद्रफेनाः तान् समुद्रफेनान् । संसर्पन्ति तच्छीला संसर्पिणः संसर्पिणां भावः संसर्पिता, कपोलयोः संसर्पिता कपोलसंसर्पिता तया कपोलसंसर्पितया । कर्णयोः क्षणंचामराः कर्णक्षणचामराः कर्णक्षणचामराणां भावः कर्णक्षणचामरत्वं तत् कर्णक्षणचामरत्वम् ।

भावार्थः—अयि प्रिये ! सहसा पार्श्वपरिवर्तनं कुर्वद्भिः गजाकरैर्ग्राहैः द्विधा विभक्तान् फेनान् पश्य ये तेषां गजमकराणां कपोलसंस्पर्शनेन कर्णयोः भयमात्रं शुभ्रत्वात् चामरा इव प्रतीयन्ते इति भावः।

भाषार्थ—गजाकार मगरों के अचानक उठने से दो भागों में विभक्त समुद्र के फेन को तो देखो—जो ऐसे सुन्दर लगते हैं मानों इनके दोनों कानों पर चँवर टँगे हों ।। ११ ।।

वेलानिलाय प्रसृता भुजङ्गा महोर्मिविस्फूर्जथुनिर्विशेषाः ।
सूर्यांशुसम्पर्कसमृद्धरागैर्व्यज्यन्त एते मणिभिः फणस्थैः ।। १२ ।।

अन्वयः— वेलानिलाय प्रसृता महोर्मिविस्फूर्जथुनिर्विशेषाः एते भुजङ्गाः सूर्यांशुसम्पर्कसमृद्धरागैः फणस्थैः मणिभिः व्यज्यन्ते ।

सञ्जी०—वेलानिलाय वेलानिलं पातुमित्यर्थः । "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" इत्यनेन चतुर्थी । प्रसृता निर्गताः महोर्मीणां विस्फूर्जथुरुद्रेकः । "ट्वितोऽथुच्" इत्यथुच्प्रत्ययः । तस्मान्निर्विशेषा दुर्ग्रहभेदा एते भुजङ्गाः सूर्यांशुसम्पर्केण समृद्धरागैः प्रवृद्धकान्तिभिः फणस्थैर्मणिभिर्व्यज्यन्त उन्नीयन्ते ।

व्याख्या—वेलानिलाय=समुद्रतीरवायुं पातुम् । प्रसृता=निर्गताः । महोर्मिविस्फूर्जथुनिर्विशेषाः=विशालतरङ्गोद्रेकभेदरहिताः । एते=इमे । भुजङ्गाः= सर्पाः । सूर्यांशुसम्पर्कसमृद्धरागैः=रविरश्मिसम्बन्धविवृद्धकान्तिभिः । फणस्थैः= फटावर्तमानैः । मणिभिः=रत्नैः । व्यज्यन्ते=ज्ञायन्ते, प्रतीयन्ते ।

समासः—वेलाया अनिलः वेलानिलः तस्मै वेलानिलाय । महान्तश्च ते ऊर्मयश्चेति महोर्मयः महोर्मीणां विस्फूर्जथवः महोर्मिविस्फूर्जथवः निर्गतः विशेषः येभ्यः ते निर्विशेषाः महोर्मिविस्फूर्जथुभ्यो निर्विशेषाः महोर्मिविस्फूर्जथुनिर्विशेषाः । सूर्यस्यांशवः सूर्यांशवः सूर्यांशूनां सम्पर्कः सूर्यांशुसम्पर्कः सूर्यांशुसम्पर्केण समृद्धो रागो येषां ते सूर्यांशुसम्पर्कसमृद्धरागाः तैः सूर्यांशुसम्पर्कसमृद्धरागैः । फणेषु तिष्ठन्तीति फणस्थाः तैः फणस्थैः ।

भावार्थः—समुद्रतटे पवनं पातुं जलान्निर्गता विशालतरङ्गाकारा एते सर्पाः स्वशिरोगतैः रविरश्मिसम्पर्कादधिकं चमत्कुर्वद्भिः मणिभिः एते सर्पा एव सन्ति, न तरङ्गा इति प्रतीयन्ते, इति भावः ।

भाषार्थ—ये जो बड़ी-बड़ी लहरों के समान दिखाई दे रहे हैं ये साँप हैं, जो तट की वायु पीने के लिए बाहर निकल आये हैं, पर जब सूर्य की किरणों से इनके फणों की मणियाँ चमक जाती हैं तब वे पहचान में आ जाते हैं ॥ १२॥

तवाधरस्पर्धिषु विद्रुमेषु पर्यस्तमेतत्सहसोर्मिवेगात् ।
ऊर्ध्वाङ्कुरप्रोतमुखं कथञ्चित्क्लेशादपक्रामति शङ्खयूथम् ॥ १३ ॥

अन्वयः—तव अधरस्पर्धिषु विद्रुमेषु सहसोर्मिवेगात् पर्यस्तं ऊर्ध्वाङ्कुरप्रोतमुखं, एतत् शंखयूथम् कथञ्चित् क्लेशात् अपक्रामति ।

सञ्जी०—तवाधरस्पर्धिषु, अधरसदृशेष्वित्यर्थः । विद्रुमेषुप्रवालेषु सहसोर्मिवेगात्पर्यस्तं प्रोत्क्षिप्तमूर्ध्वाङ्कुरैर्विद्रुमप्ररोहैः प्रोतमुखं स्यूतवदनमेतच्छङ्खानां यूथं वृन्दं कथञ्चित्क्लेशादपक्रामति विलम्ब्यापसरतीत्यर्थः ।

व्याख्या—तव = ते । अधरस्पर्धिषु = ओष्ठसाम्यार्थिषु, अधरसदृशेषु । विद्रुमेषु=प्रवालेषु । सहसा=द्रुततरम् । ऊर्मिवेगात्=तरङ्गजवात् । पर्यस्तं = प्रोत्क्षिप्तम् । ऊर्ध्वाङ्कुरप्रोतमुखं=विद्रुमप्ररोहस्यूतमुखम् । एतत्=इदं । शङ्खयूथम्=कम्बुवृन्दम् । कथंचित्=केनापि प्रकारेण । क्लेशात्=कृच्छ्रात् । अपक्रामति=गच्छति । अङ्कुरे दृढसंलग्नत्वात् शङ्खानां ततोऽपसरणे महान् क्लेशो भवतीत्यर्थः ।

समासः—अधरमधरेण वा स्पर्द्धन्ते तच्छीलाः इति अधरस्पर्द्धिनः तेषु अधरस्पर्धिषु । ऊर्मीणां वेगः ऊर्मिवेगः तस्मात् ऊर्मिवेगात् । ऊर्ध्वाश्च ते अङ्कुराश्चेति ऊर्ध्वाङ्कुराः, ऊर्ध्वाङ्कुरेषु प्रोतं मुखं यस्य तम् ऊर्ध्वाङ्कुरप्रोतमुखम् । शङ्खानां यूथं शङ्खयूथम् ।

भावार्थः—प्रिये ! रक्तवर्णतया त्वदधरसदृशेषु प्रवालेषु तरङ्गवेगात् सहसा पातितः विद्रुमाङ्कुरैः स्यूतवदनः शङ्खनिकरः विद्रुमाणामङ्कुरेषु दृढसंलग्नत्वात् शङ्खनां ततोऽपसरणे महान् क्लेशो भवतीति कौतुकं पश्येति भावः ।

भाषार्थ—देखो, तुम्हारे अधर के समान लाल मूँगों से लहरों की झोंक में टकरा जाने से इन जीवित शंखों के मुँह छिद गये हैं और उस पीड़ा से ये बेचारे बड़ी कठिनाई से इधर-उधर चल पा रहे हैं ॥ १३ ।

प्रवृत्तमात्रेण पयांसि पातुमावर्तवेगाद् भ्रमता घनेन ।
आभाति भूयिष्ठमयं समुद्रः प्रमथ्यमानो गिरिणेव भूयः ॥ १४ ॥

अन्वयः—पयांसि पातुं प्रवृत्तमात्रेण आवर्तवेगात् भ्रमता घनेन अयं समुद्रः भूयः गिरिणा प्रमथ्यमानः इव भूयिष्ठम् आभाति ।

सञ्जी०—पयांसि पातुं प्रवृत्त एव प्रवृत्तमात्रो न तु पीतवांस्तेनावर्तवेगात् । 'स्यादावर्तोऽम्भसां भ्रमः' इत्यमरः । भ्रमता घनेन मेघेनायं समुद्रो भूयः पुनरपि गिरिणा मन्दरेण प्रमथ्यमान इव भूयिष्ठमत्यन्तमाभाति ।

व्याख्या—पयांसि = जलानि । पातुम् = आचमितुम् । प्रवृत्तमात्रेण=कृतारम्भेण आरम्भमाणेन वा । आवर्तवेगात्=जलभ्रमजवात् । भ्रमता=भ्रमणं कुर्वता । घनेन = मेघेन । अयं = एषः । समुद्रः = सागरः । भूयः = पुनरपि । गिरिणा = पर्वतेन, मन्दरेण । प्रमथ्यमान इव = विलोड्यमानः, क्रियमाणमथन इव । भूयिष्ठम् = अत्यन्तम् । आभाति=सातिशये शोभते ।

समासः—प्रवृत्त एव प्रवृत्तमात्रः तेन प्रवृत्तमात्रेण । आवर्तस्य वेगः आवर्तवेगः तस्मात् आवर्तवेगात् । प्रमथ्यते इति प्रमथ्यमानः ।

भावार्थः—अस्य समुद्रस्य जलं ग्रहीतुमारभमाणेन आवर्तवेगात् जलभ्रमिषु निपत्य भ्रमता मेघेनायं समुद्रः पुनरपि मन्दराचलेन मथ्यमान इव प्रतीयते इति भावः ।

भाषार्थ—वह देखो, काले बादल समुद्र का पानी पीने के लिए आये हैं और समुद्र के भँवरों के साथ-साथ बड़ी तीव्र गति से चक्कर काट रहे हैं, इस समय यह समुद्र ऐसा जान पड़ रहा है मानो मन्दराचल से यह पुनः मथा जा रहा हो ।।१४।।

दूरादयश्चक्रनिभस्य तन्वी तमालतालीवनराजिनीला ।
आभाति वेला लवणाम्बुराशेर्धारानिबद्धेव कलङ्करेखा ।। १५ ॥

अन्वयः—अयश्चक्रनिभस्य लवणाम्बुराशेः दूरात् तन्वी तमालतालीवनराजिनीला वेला धारानिबद्धा कलङ्करेखा इव आभाति ।

सञ्जी०—अयश्चक्रनिभस्य लोहचक्रसदृशस्य लवणाम्बुराशेर्दूरात्तन्व्यणुत्वेनावभासमाना तमालतालीनवराजिभिर्नीला वेला तीरभूमिर्धारानिबद्धा चक्राश्रिता कलङ्करेखा मालिन्यरेखेव आभाति । 'मालिन्यरेखां तु कलङ्कमाहुः' इति दण्डी ।

व्याख्या—अयश्चक्रनिभस्य=लोहचक्रसदृशस्य । लवणाम्बुराशेः=क्षारनिधेः समुद्रस्य । दूरात्=विप्रकृष्टात् । तन्वी=कृशा । तमालतालीवनराजिनीला= तापीच्छतालवनपंक्तिनीला । वेला= तीरभूमिः । धारानिबद्धा=चक्राश्रिता । कलङ्करेखा=मालिन्यरेखा इव=यथा आभाति=आदीप्यते ।

समासः—अयसश्चक्रम् अयश्चक्रम् अयश्चक्रेण निभः अयश्चक्रनिभः तस्य अयश्चक्रनिभस्य । तमालाश्च ताल्यश्च तमालताल्यः तमालतालीनां वनानि तमालतालीवनानि तमालतालीवनानां राजिः तमालतालीवनराजिः तमालतालीवनराज्या नीलेति तमालतालीवनराजिनीला । लवणानि च तानि अम्बूनि लवणाम्बूनि लवणाम्बूनां राशिः लवणाम्बुराशिः तस्य लवणाम्बुराशेः । धारायां निबद्धा धारानिबद्धा । कलङ्कस्य रेखा कलङ्करेखा ।

भावार्थः—अयि सीते ! लोहचक्रसदृशस्य लवणार्णवस्य दूरादणुत्वेनावभासमाना तमालतालीवनराजिनीलवर्णा तीरभूमिः भ्रमच्चक्रसंसक्ता मालिन्यरेखा इव प्रतीयते इति भावः।

भाषार्थ—देखो, दूर होने के कारण लोहे के हाल के समान पतला ताल और तमाल वृक्षों के समूह से काला दिखाई देनेवाला यह समुद्र का तट ऐसा दिखाई दे रहा है मानों चक्र की धार पर मुर्चा जम गया हो ॥ १५ ॥

वेलानिलः केतकरेणुभिस्ते सम्भावयत्याननमायताक्षि ! ।
मामक्षमं मण्डनकालहानेर्वेत्तीव बिम्बाधरबद्धतृष्णम् ॥ १६ ॥

अन्वयः—हे आयताक्षि ! वेलानिलः केतकरेणुभिः ते आननं सम्भावयति बिम्बाधरबद्धतृष्णम् मां मण्डनकालहानेः अक्षमं वेत्ति इव ।

सञ्जी०—हे आयताक्षि ! 'वेला स्यात्तीरनीरयोः' इति विश्वः। वेलानिलः समुद्रतीरवायुः केतकरेणुभिस्ते आननं सम्भावयति। किमर्थमित्यपेक्षायामुत्प्रेक्षते—विम्बाधरे बद्धतृष्णं मां मण्डनेनाभरणक्रियया कालहानिर्विलम्बस्तस्या अक्षममसहमानं कर्मणि षष्ठी। कालहानिमसहमानं वेत्तीव वेत्ति किम्। नो चेत्कथं सम्भावयेदित्यर्थः।

व्याख्या—हे आयताक्षि = विशाललोचने। वेलानिलः = सागरतटवायुः। केतकरेणुभिः = केतकीपुष्पपरागैः। ते = तव। आननं = मुखम्। संभावयति = अलङ्करोति। बिम्बाधरबद्धतृष्णं = विम्बोष्ठपानलालसम्। मां = रामं। मण्डनकालहानेः = अलङ्करणसमयकालक्षेपस्य। अक्षमं = असहमानम्, कालक्षेपमसहमानम्। वेत्ति इव = जानाति इव।

समासः—आयते अक्षिणी यस्या सा आयताक्षी तत्सम्बुद्धौ हे आयताक्षि ! वेलाया अनिलः वेलानिलः। केतकानां रेणवः केतकरेणवः तैः केतकरेणुभिः। बिम्ब इव अधरः विम्बाधरः विम्बाधरे बद्धा तृष्णा यस्य येन वा स बिम्बाधरबद्धतृष्णः तं बिम्बाधरबद्धतृष्णम्। कालस्य हानिः कालहानिः मण्डने कालहानिरिति मण्डनकालहानिः तस्या मण्डनकालहानेः। अविद्यमाना क्षमा यस्य स अक्षमः तमक्षमम्। यद्वा, न क्षमः अक्षमः तमक्षमम्।

भावार्थः—अयि सुलोचने सीते ! सागरतीरवायुः बिम्बफलसदृशं त्वन्मुखाम्भोजं पातुकामनया आभरणक्रियायां विलम्बमसहमानं मां ज्ञात्वा केतकीपुष्पपरागविलेपनेन त्वन्मुखकमलमलङ्करोतीति भावः।

भावार्थ—हे विशाललोचने प्रिये ! समुद्र तट का वायु तुम्हारे मुखको केतकी के पराग से अलङ्कृत कर रहा है, मानो वह यह जान गया है कि मैं तुम्हारे अधरों को चूमने वाला ही हूँ और अब अधिक शृङ्गार करने की राह नहीं देख सकता ॥ १६ ॥

एते वयं सैकतभिन्नशुक्तिपर्यस्तमुक्तापटलं पयोधेः ।
प्राप्ता मुहूर्तेन विमानवेगात्कूलं फलावर्जितपूगमालम् ॥ १७ ॥

अन्वयः—एते वयं सैकतभिन्नशुक्तिपर्यस्तमुक्तापटलं फलावर्जितपूगमालम् पयोधेः कूलं विमानवेगात् मुहूर्तेन प्राप्ताः ।

सञ्जी०—एते वयं सैकतेषु भिन्नाभिः स्फुटिताभिः शुक्तिभिः पर्यस्तानि परितः क्षिप्तानि मुक्तानां पटलानि यस्मिंस्तत्तथोक्तं फलैरावर्जिता आनमिता पूगमाला यस्मिंस्तत्पयोधेः सागरस्य कूलं तीरं विमानवेगात्पुष्पकविमानवेगान्मुहूर्तेन प्राप्ताः ।

व्याख्या—एते=इमे । वयम्=विमानारूढा रामादयः । सैकतभिन्नशुक्तिपर्यस्तमुक्तापाटलम्=बालुकामयस्फुटितशुक्तिपरिक्षिप्तमौक्तिकसमूहम् । फलावर्जितपूगमालं=फलानमितक्रमुकपङ्क्तिः । पयोधेः=समुद्रस्य, कूलं=तीरम् । विमानवेगात्=व्योमयानजवात् । मुहूर्तेन=अल्पकालेन । प्राप्ताः=आसादिताः समागताः ।

समासः—सिकता एषु सन्तीति सैकताः सैकतेषु भिन्नाः सैकतभिन्नाः सैकतभिन्नाश्च ताः शुक्तयः सैकतभिन्नशुक्तयः मुक्तानां पटलानि मुक्तापटलानि सैकतभिन्नशुक्तिभिः पर्यस्तानि मुक्तापटलानि यस्मिन् तत् सैकतभिन्नं शुक्तिपर्यस्तमुक्तापटलं तत् सैकतभिन्नशुक्तिपर्यस्तमुक्तापटलम् । विमानस्य वेगः विमानवेगस्तस्मात् विमानवेगात् । पूगानां माला पूगमाला फलैः आवर्जिताः फलावर्जिताः फलावर्जिताः पूगमाला यस्मिन् तत् फलवर्जितपूगमालं तत् फलावर्जितपूगमालम् ।

भावार्थः—अयि सीते ! पुष्पकविमाने समारूढा वयं विमानस्य शीघ्रगत्या अतित्वरितं सागरपश्चिमतीरमुपागताः यत्र बालुकामयभूमौ स्फुटिताभिः शुक्तिभिः परिक्षिप्तानि इतस्ततो विकीर्णानि मुक्ताफलपटलानि विलोक्यन्ते । यत्र वा क्रमुकतरुतनयः फलैरवनताः कामप्यपूर्वां सुषमां जनयन्तीति भावः ।

भाषार्थ—यह देखो, विमान के तेजी से चलने के कारण क्षण भर में ही हम लोग समुद्र के उस तट पर पहुँच गये, जहाँ बालू पर सीपों के फैल जाने से मोती बिखरे पड़े हैं और फलों के भार से सुपारी के पेड़ झुके खड़े हैं ॥ १७ ॥

कुरुष्व तावत्करभोरु ! पश्चान्मार्गे मृगप्रेक्षिणि ! दृष्टिपातम् ।
एषा विदूरीभवतः समुद्रात् सकानना निष्पततीव भूमिः ॥ १८ ॥

अन्वयः—हे करभोरु ! मृगप्रेक्षिणि ! तावत् पश्चात् मार्गे दृष्टिपातं कुरुष्व एषा सकानना भूमिः विदूरीभवतः समुद्रात् निष्पतति इव ।

सञ्जी०—'मणिबन्धादाकनिष्ठं करस्य करभो बहिः' इत्यमरः । करभ इवोरू यस्याः सा करभोरूः । 'ऊरूत्तरपदादौपम्ये' इत्यूङ् । तस्या सम्बुद्धिर्हे करभोरु ! मृगवत्प्रेक्षत इति विग्रहः । हे मृगप्रेक्षिणि ! तावत्पश्चान्मार्गे लङ्घिताध्वनि दृष्टिपातं कुरुष्व । एषा सकानना भूमिर्विदूरीभवतः समुद्रान्निष्पतति निष्क्रामतीव । विदूर-शब्दाद्विशेष्यनिघ्नाच्च्विः ।

व्याख्या—हे करभोरु=करभसदृशोरुसम्पन्ने ! हे मृगप्रेक्षिणि=हे कुरङ्ग-दर्शिनि ! सीते ! तावत् पश्चान्मार्गे=अतिक्रान्ते पथि, लङ्घितेऽध्वनि । दृष्टिपातं=नेत्रप्रक्षेपम् । कुरुष्व=विधेहि । एषा=असौ । सकानना=काननसहिता । भूमिः=अवनिः । विदूरीभवतः=विप्रकृष्टीभवतः । समुद्रात्=सागरात् । निष्पतति=निष्क्रामति इव ।

समासः—करभौ एव ऊरू यस्या सा करभोरुः तत्सम्बुद्धौ हे करभोरु ! मृगवत् प्रेक्षते इति मृगप्रेक्षिणी तत्सम्बुद्धौ हे मृगप्रेक्षिणि ! काननैः सह वर्तते इति सकानना । दृष्टयोः पातः दृष्टिपातः तं दृष्टिपातम् । विशेषेण दूरः विदूरः न विदूरः अविदूरः अविदूरः विदूरो भवन् इति विदुरीभवन् तस्मात् विदुरीभवतः ।

भावार्थः—हे मृगनयनि सीते ! साम्प्रतं त्वं अतिक्रान्ते मार्गे दृष्टिं देहि । स-कानना एषा भूः शनैः-शनै दूरं गच्छतः समुद्रात् निष्क्रमतीव प्रतीयते इति भावः ।

भावार्थ—हे कदली दलके समान जंघावाली मृगनयनी प्रिये ! जरा पीछे की ओर तो देखो, दूर चले आने के कारण यह जंगलों से भरी हुई भूमि ऐसी दिखाई दे रही है मानों समुद्र से अभी निकल पड़ी हो ॥ १८ ॥

क्वचित्पथा सञ्चरते सुराणां क्वचिद्घनानां पततां क्वचिच्च ।
यथाविधो मे मनसोऽभिलाषः प्रवर्तते पश्य तथा विमानम् ॥ १९ ॥

अन्वयः—(हे देवि !) विमानं मे मनसः अभिलाषः यथाविधः प्रवर्तते तथा पश्य क्वचित् सुराणां क्वचित् घनानां क्वचित् पततां च पथा संचरते ।

सञ्जी०—हे देवि ! विमानं पुष्पकं मे मनसोऽभिलाषो यथाविधस्तथा प्रवर्तते पश्य । क्वचित्सुराणां तथा मार्गेण सञ्चरते क्वचिद्घनानां क्वचित्पततां पक्षिणां च पथा सञ्चरते । 'समस्तृतीयायुक्तात्' इति सम्पूर्वाच्चरतेरात्मनेपदम् ।

व्याख्या—हे सीते ! विमानं=पुष्पकविमानम् । मे=मम । मनसः=चित्तस्य । अभिलाषः=मनोरथः । यथाविधः=यादृशः । प्रवर्तते=प्रवृत्तो भवति । तथा=तेन प्रकारेण । क्वचित्=कुत्रचित् । सुराणां=देवानाम् । पथा=मार्गेण । घनानां=मेघानाम् । क्वचित्=कदाचित् । पततां=पक्षिणाम् । पथा च=मार्गेण च । सञ्चरते=उड्डीयते इति । पश्य=विलोकय ।

समासः—यथा विधा यस्य स यथाविधः ।

भावार्थः—सीते ! पुष्पकविमानमिदं मदभिलाषमनुसृत्य कदाचित् उच्चतमेन देवानां मार्गेण, क्वचित् ततोऽधो मध्यमेन मेघमार्गेण, कदाचिच्च ततोऽधः पक्षिणां सञ्चरणयोग्येन निम्नमार्गेण उड्डीयते । देवि ! भवतीविनोदार्थमेवमभिलषन्नह-मीदृशं चालयामीति भावः ।

भावार्थ—हे प्रिये ! मैं जिधर चाहता हूँ उधर ही यह विमान घूम जाता है, यह कभी तो देवताओं के मार्ग में उड़ता चलता है, कभी बादलों के मार्ग में पहुँच जाता है और कभी पक्षियों के मार्ग (आकाश) में उड़ने लगता है ॥ १९ ॥

असौ महेन्द्रद्विपदानगन्धिस्त्रिमार्गगावीचिविमर्दशीतः ।
आकाशवायुर्दिनयौवनोत्थानाचामति स्वेदलवान्मुखे ते ॥ २० ॥

अन्वयः—महेन्द्रद्विपदानगन्धिः त्रिमार्गगावीचिविमर्दशीतः असौ अकाशवायुः दिनयौवनोत्थान् ते मुखे स्वेदलवान् आचामति ।

सञ्जी०—महेन्द्रद्विपदानगन्धिरैरावतमदगन्धिः । त्रिभिर्मार्गैर्गच्छतीति त्रिमार्गगा गङ्गा । 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्यनेनोत्तरपदसमासः । तस्या वियद्गङ्गाया वीचीनां विमर्देन सम्पर्केण शीतोऽसावाकाशवायुर्दिनयौवनोत्थान्मध्याह्नसम्भवांस्ते मुखे स्वेदलवानाचामति हरति । अनेन सुरपथसञ्चारो दर्शितः ।

व्याख्या—सिते ! महेन्द्रद्विपदानगन्धिः=सुरेन्द्रद्विपैरावतसुगन्धिः । त्रिमार्गगावीचिविमर्दशीतः=आकाशगङ्गासम्पर्कशीतलः । असौ=अयम् । आकाशवायुः=व्योमवातः । दिनयौवनोत्थान्=मध्याह्नोत्पन्नान् । ते=तव । मुखे=आनने । स्वेदलवान्=श्रमजलकणान् । आचामति=भक्षयति, अपनयति, शोषयति वा ।

समासः—महांश्चासौ इन्द्रः महेन्द्रः महेन्द्रस्य द्विपः महेन्द्रद्विपः तस्य महेन्द्रद्विपस्य दानं महेन्द्रद्विपदानं महेन्द्रद्विपदानस्य गन्ध इव गन्धो यस्य स महेन्द्रद्विपदानगन्धिः । त्रिभिः मार्गैः गच्छतीति त्रिमार्गगा त्रिमार्गगायाः वीचयः त्रिमार्गगावीचयः त्रिमार्गगावीचीनां विमर्दः त्रिमार्गगावीचिविमर्दः त्रिमार्गवीचिविमर्देन

शीतः त्रिमार्गंगावीचिविमर्दशीतः। आकाशस्य वायुः आकाशवायुः। दिनस्य यौवनं दिनयौवनं दिनयौवनात् उत्तिष्ठन्तीति दिनयौवनोत्थाः तान् दिनयौवनोत्थान्। स्वेदस्य लवाः स्वेदलवाः तान् स्वेदलवान्।

भावार्थः—सीते! ऐरावतमदगन्धिः आकाशगङ्गातरङ्गशीतलः गगनतलवायुः मध्याह्नकालनिर्गतान् त्वन्मुखकमले स्वेदजलकणान् शोषयतीति भावः।

भाषार्थ—ऐरावत के मद से सुगन्धित और आकाश गङ्गा की लहरों के स्पर्श से शीतल यह आकाश का वायु तुम्हारे मुखपर दोपहर की गर्मी से उत्पन्न हुए पसीने की बूंदों को सुखा रहा है ॥ २० ॥

करेण वातायनलम्बितेन स्पृष्टस्त्वया चण्डि! कुतूहलिन्या।
आमुञ्चतीवाभरणं द्वितीयमुद्भिन्नविद्युद्वलयो घनस्ते ॥ २१ ॥

अन्वयः—हे चण्डि! कुतूहलिन्या त्वया वातायनलम्बितेन करेण स्पृष्टः उद्भिन्नविद्युद्वलयः घनः ते द्वितीयं आभरणं आमुञ्चति इव।

सञ्जी०—हे चण्डिकोपने! 'चण्डस्त्वन्तकोपनः' इत्यमरः। कुतूहलिन्या विनोदार्थिन्या त्वया कर्त्र्या वातायने गवाक्षे लम्बितेनावस्रंसितेन करेण स्पृष्ट उद्भिन्नविद्युद्वलयो घनस्ते द्वितीयमाभरणं वलयमामुञ्चतीवार्पयतीव। चण्डीत्यनेन कोपनशीलत्वाद्भीतः क्षिप्रं त्वां मुञ्चति मेघ इति व्यज्यते।

व्याख्या—हे चण्डि!=परमक्रोधने! कुतूहलिन्या=कौतुकवत्या, विनोदिन्या। त्वया=भवत्या। वातायनलम्बितेन=गवाक्षस्रंसितेन। स्पृष्टः=कृतस्पर्शः। उद्भिन्नविद्युद्वलयः=विलसिततडित्कङ्कणः। घनः=मेघः। ते=तव। द्वितीयं=द्वयोः पूरकम्। आभरणं=अलङ्कारं वलयम्। आमुञ्चतीव=अर्पयतीव।

केनचित् टीकाकर्त्रा चण्डीति सम्बोधनस्याशयं प्रकटयता प्रोक्तमस्ति यत् विद्युदन्वितं श्यामलं मेघमालोक्य सीताया भ्रमो जात यत् श्यामलवर्णः श्रीरामः किमपरया कयाचिल्ललनया सहितोऽस्ति। अतस्तस्य क्रोधात् सम्बोधनमिदं संगच्छते।

मल्लिनाथेन तु चण्डीत्यनेन कोपनशीलत्वात् भीतो मेघः क्षिप्रं त्वां विमुञ्चतीति भावो व्यक्तः।

समासः—कुतूहलमस्या अस्तीति कुतूहलिनी तया कुतूहलिन्या। वातस्य अयनं वातायनं वातायने लम्बितः वातायनलम्बितः तेन वातायनलम्बितेन। विद्युदेव वलयः विद्युद्वलयः उद्भिन्नः विद्युद्वलयो येन स उद्भिन्नविद्युद्वलयः।

भावार्थः—अयि कोपने सीते! विनोदप्रियया त्वया विमाने करमवतार्य बहिः

प्रसारितेन तेन स्पृष्टो विद्युत्सहितो मेघः त्वत्करे द्वितीयं सौवर्णकङ्कणं परिधापयतीवेति भावः।

भाषार्थ—हे प्रिये! जब तुम कौतुकवश अपना हाथ विमान से बाहर निकालकर बादल को छूने लगती हो, तो तुम्हारे मणिबन्ध के चारों तरफ बिजली चमक जाती है, उस समय ऐसा मालूम पड़ता है, मानो वह बादल तुम्हारे हाथ में दूसरा कङ्कण पहना हो ॥ २१ ॥

अमी जनस्थानमपोढविघ्नं मत्वा समारब्धनवोटजानि।
अध्यासते चीरभृतो यथास्वं चिरोज्झितान्याश्रममण्डलानि ॥ २२ ॥

अन्वयः—अमी चीरभृतः जनस्थानं अपोढविघ्नं मत्वा समारब्धनवोटजानि चिरोज्झितानि आश्रममण्डलानि यथास्वं अध्यासते।

सञ्जी०—अमी चीरभृतस्तापसा जनस्थानमपोढविघ्नमपास्तविघ्नं मत्वा ज्ञात्वा समारब्धा नवा उटजाः पर्णशाला येषु तानि। 'पर्णशालोटजोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। चिरोज्झितानि। राक्षसभयादित्यर्थः। आश्रममण्डलान्याश्रमविभागान्। यथास्वं स्वमनतिक्रम्याध्यासतेऽधितिष्ठन्ति।

व्याख्या—अमी=एते। चीरभृतः=वल्कलधारिणः तपस्विनः। जनस्थानं =दण्डकारण्यभागम्। अपोढविघ्नं=निरस्तविघ्नम्, राक्षसान्तरायरहितम्। मत्वा=ज्ञात्वा। समारब्धनवोटजानि=प्रारब्धनूतनपर्णशालानि। चिरोज्झितानि राक्षसभयाद्वहुकालात्त्यक्तानि। आश्रममण्डलानि=आश्रमविभागान् धर्मारण्यस्थानानि। यथास्वम्=स्वमनतिक्रम्य। अध्यासते=तिष्ठन्ति, निवसन्ति।

समासः—चीराणि बिभ्रतीति चीरभृतः, अपोढा विघ्ना यस्य तत् अपोढविघ्नं तत् अपोढविघ्नम्। नवानि च तानि उटजानि चेति नवोटजानि। समारब्धानि नवोटजानि येषु तानि समारब्धनवोटजानि, तानि समारब्धनवोटजानि। चिरमुज्झितानि चिरोज्झितानि तानि चिरोज्झितानि। आश्रमाणां मण्डलानि आश्रममण्डलानि, तानि आश्रममण्डलानि। स्वमनतिक्रम्य यथास्वम्।

भावार्थः—देवि! एते वल्कलवस्त्रधारिणः तपस्विनः राक्षसस्योपद्रवेण परित्यक्तं दण्डकारण्यप्रदेशं मया निहितराक्षसं विपद्रहितं विचार्य पुनः स्वस्वस्थानेषु नूतनाः पर्णशालाः निर्माय।धितिष्ठन्तीतीदं प्रपश्येति भावः।

भाषार्थ—प्रिये! नीचे देखो, रावण आदि राक्षसों के मारे जाने की बात सुनकर वल्कल वस्त्रधारी इन तपस्वियों ने समझ लिया है कि अब कोई बाधा

नहीं रही। इसलिए ये नयी-नयी कुटिया बनाकर बहुत दिनों से छोड़े हुए आश्रमों में पहले के समान निवास कर रहे हैं ।। २२ ।।

सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम् ।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम् ॥ २३ ॥

अन्वयः—सा स्थली एषा यत्र त्वां विचिन्वता मया त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखात् इव बद्धमौनं उर्व्यां भ्रष्टम् एकम् नूपुरम् अदृश्यत।

सञ्जी०—सा पूर्वानुभूता स्थल्येषा। दृश्यत इत्यर्थः। यत्र स्थल्यां त्वां विचिन्वताऽन्विष्यता मया। त्वच्चरणारविन्देन यो विश्लेषो वियोगस्तेन यद् दुःखं तस्मादिव बद्धमौनं निःशब्दम्। उर्व्यां भ्रष्टमेकं नूपुरं मञ्जीरः। 'मञ्जीरो नूपुरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। अदृश्यत दृष्टम्। हेतूत्प्रेक्षा।

व्याख्या—सा=एषा। स्थली=पूर्वानुभूता सम्प्रति दृश्यमाना च भू प्रत्यभिज्ञायते। यत्र=स्थल्याम्। त्वां=भवतीम्। विचिन्वता=अन्विष्यता मया=रामेण। त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखात् इव=त्वत्पादकमलवियोगक्लेशात् इव। बद्धमौनं=निःशब्दम्। उर्व्यां=पृथिव्याम्। भ्रष्टं=पतितम्। एकं नूपुरं =पादाङ्गदम्। अदृश्यत=अलक्ष्यत, दृष्टम्। पुरा हि रावणेन प्रसभमपह्रियमाणा सीता अनेनैव मार्गेण नीता, इति रामस्य परिज्ञानार्थंपादात् पृथिव्यां नूपुरं पातयामासेति रामायणीया कथाऽत्रानुसन्धेया।

समासः—विचिनोतीति विचिन्वन् तेन विचिन्वता चरणमरविन्दमिव चरणारविन्दं तव चरणारविन्दे त्वच्चरणारविन्दं त्वच्चरणारविन्दात् विश्लेषः त्वच्चरणारविन्दविश्लेषः त्वच्चरणारविन्दविश्लेषात् दुःखं यद्वा त्वच्चरणारविन्दविश्लेष एव दुःखं त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखं तस्मात् त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखात् बद्धम् मौनं येन तद् बद्धमौनम्।

भावार्थः—हे जनकतनये! इदं तदेव स्थानम्, यत्र रावणेनापहृतां त्वां मार्गमाणेन मया तव पादात् पृथिव्यां पतितं सत् त्वच्चरणवियोगदुःखादिव निःशब्दं स्थितं नूपुरं मया दृष्टमिति भावः।

भाषार्थ—प्रिये! देखो यह वही स्थान है जहाँ तुम्हें ढूंढ़ते हुए मैंने पृथ्वी पर पड़े हुए तुम्हारे एक नूपुर को पाया था। गुप-चुप पड़ा हुआ वह ऐसा मालूम पड़ रहा था मानों तुम्हारे चरणों से अलग हो जाने के दुःख से चुप हो गया हो।

त्वं रक्षसा भीरु! यतोऽपनीता तं मार्गमेताः कृपया लता मे।
अदर्शयन् वक्तुमशक्नुवत्यः शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः ।। २४ ॥

अन्वयः—हे भीरु ! त्वं रक्षसा यतः अपनीता तं मार्गं वक्तुं अशक्नुवत्यः एताः लताः आवर्जितपल्लवाभिः शाखाभिः अदर्शयन् ।

सञ्जी०—हे भीरु भयशीले ! 'ऊङुतः' इत्यूङ् । ततो नदीत्वात्संबुद्धौ ह्रस्वः । त्वं रक्षसा रावणेन यतो येन मार्गेण । सार्वविभक्तिकस्तसिः । अपनीताऽपहृता तं मार्गं वागिन्द्रियाभावाद्वक्तुमशक्नुवत्य एता लता वीरुध आवर्जिता नमिताः पल्लवाः पाणिस्थानीया याभिस्ताभिः शाखाभिः स्वावयवभूताभिः कृपया मेऽदर्शयन् । हस्तचेष्टया सूचयन्नित्यर्थः । 'शाखा वृक्षान्तरे भुजे' इति विश्वः । लतादीनामपि ज्ञानमस्त्येव । तदुक्तं मनुना—'अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः' इति ।

व्याख्या—हे भीरु !=भयशीले सीते ! त्वं=भवति । रक्षसा=राक्षसेन, रावणेन । यतः=येन मार्गेण । अपनीता=अपहृता । तं=तादृशम् । मार्गं=पन्थानम् । वक्तुं=भाषितुम् । अशक्नुवत्यः=असमर्थाः वागिन्द्रियाभावाद्वक्तुमसमर्थाः । एताः = इमाः । लताः = वल्लयः । आवर्जितपल्लवाभिः = पाणिस्थानीयाभिर्नमितकिशलयाभिः, शाखाभिः = भुजस्थानीयैः विटपैः कृपया = दयया । मे = मम कृते अदर्शयन् = दर्शितवत्यः । असूयन्निवेति भावः ।

समासः—न शक्नुवत्यः अशक्नुवत्यः । आवर्जिताः पल्लवाः याभिः ताः आवर्जितपल्लवाः ताभिः आवर्जितपल्लवाभिः ।

भावार्थः—अयि भयशीले जानकि ! रावणः त्वामपहृत्य येन मार्गेण गतवान् । तं मार्गं मानवा इव वक्तुमसमर्थाः एता लताः दयार्द्राः सत्यः अङ्गुलिभिरिव अवनमितकिशलयैर्विटपैरदर्शयन् । अतः एतास्ते सख्यः ताः पश्य, यतो हि चैतन्यात् वृक्षलतादयोऽपि समदुःखभाजो भवन्ति । तथाहि भगवान् मनुः—

'तमसा बहुरूपेण वेष्टिताकर्महेतुना ।
अन्तः संज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विता ॥'

भावार्थ—हे भीरु प्रिये ! रावण तुम्हें जिस मार्ग से ले गया था उस मार्ग को ये लतायें मुझको बताना चाहती थीं पर बोल न सकने के कारण इन्होंने अपनी पत्तों वाली डालियों को ही उधर झुकाकर मुझे तुम्हारा पता बता दिया था ।२४।

मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षास्तवागतिज्ञं समबोधयन्माम् ।
व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि ॥ २५ ॥

अन्वयः—दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षाः मृग्यः उत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि दक्षिणस्यां दिशि व्यापारयन्त्यः तव अगतिज्ञं मां समबोधयन् ।

सञ्जी०—दर्भाङ्कुरेषु भक्ष्येषु निर्व्यपेक्षा निःस्पृहा मृग्यो मृगाङ्गनाश्चोत्पक्ष्म राजीनि विलोचनानि दक्षिणस्यां दिशि व्यापारयन्त्यः प्रवर्तयन्त्यः सत्यस्तवा तिज्ञं गत्यनभिज्ञं मां समबोधयन् । दृष्टिचेष्टया त्वद्गतिमबोधयन्नित्यर्थः ।

व्याख्या—सीते ! दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षाः = तृणादिभक्ष्यनिस्पृहाः । मृग्यः हरिण्यश्च । उत्पक्ष्मराजीनि=उन्नताक्षिलोमपङ्क्तीनि । विलोचनानि=नेत्राणि दक्षिणस्यां = अवाच्यां, दिशि=काष्ठायाम्, व्यापारयन्त्यः = प्रवर्तयन्त्यः । =भवत्याः । अगतिज्ञं=गत्यनभिज्ञं मां=रामम् । समबोधयन्=सम्बोधितवत्य नेत्रचेष्टया त्वद्गतिमबोधयन् ।

समासः—दर्भाणामङ्कुरा दर्भाङ्कुराः, निर्गता व्यपेक्षा मान्यः ता निर्व्यपेक्ष दर्भाङ्कुरेषु निर्व्यपेक्षा दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षाः । गतिं जानाति गतिज्ञः, न गतिज्ञ अगतिज्ञः तम् अगतिज्ञम् । पक्ष्मणां राजयः पक्ष्मराजयः उद्गताः पक्ष्मराजयः ये तानि उत्पक्ष्मराजीनि । मृगाणां स्त्रियः मृग्यः । विशिष्टानि लोचनानि विलोच नानि । व्यापारयन्तीति व्यापारयन्त्यः ।

भावार्थः—कोमलकुशाङ्कुरचर्वणं परित्यज्य मृगाणां स्त्रियः दक्षिणस्यां दिशि लोचनानि व्यापारयन्त्यः त्वां मार्गमाणमगतिज्ञं मां त्वं दक्षिणस्यां नीतेति समबोधयन् । अतः एता अपि पश्येति भावः ।

भावार्थ—हरिणियों ने भी जब देखा कि मुझे तुम्हारे जाने के मार्ग का पता नहीं लग रहा है, तब वे अपनी उठी हुई पलकों वाली आँखें दक्खिन की ओर करके मुझे तुम्हारा मार्ग समझाने लगी ।। २५ ।।

एतद्गिरेर्माल्यवतः पुरस्तादाविर्भवत्यम्बरलेखि श्रृङ्गम् ।
नवं पयो यत्र घनैर्मया च त्वद्विप्रयोगाश्रु समं विसृष्टम् ।। २६ ।।

अन्वयः—माल्यवतः गिरेः अम्बरलेखि श्रृङ्गम् एतत् पुरस्तात् आविर्भवति यत्र घनैः नवं पयः त्वद्वियोगाश्रु समं विसृष्टम् ।

सञ्जी०—माल्यवतो नाम गिरेम्बरलेख्यभ्रङ्कषं श्रृङ्गं शिखरमेतत्पुरस्ताद आविर्भवति । यत्र श्रृङ्गे घनैर्मेघैर्नवं पयो मया त्वद्विप्रयोगेण यदश्रु तच्च स युगपद्विसृष्टं मुक्तम् । मेघदर्शनाद्वर्षातुल्यमश्रु विमुक्तमिति भावः ।

व्याख्या—सीते ! माल्यवतः=माल्यवन्नामकस्य । गिरेः=पर्वतस्य । अम्बर लेखि=अभ्रंकषम् । श्रृङ्गं=शिखरम् । एतत्=इदम् । पुरस्तात्=अग्रे । आवि र्भवति=प्रादुर्भवति । यत्र=गिरिमृग्ये । घनैः=मेघैः । नवं=नूतनम् । पयः=

जलम् । मया=रामेण । त्वद्वियोगाश्रु=त्वद्विरहनयनजलम् । समं=युगपत् । विसृष्टं=मुक्तम् । मेघदर्शनान्मया वर्षतुल्यमश्रु विमुक्तम् ।

समासः—अम्बरं लिखतीति अम्बरलेखि । तव विप्रयोगः त्वद्विप्रयोगः त्वद्विप्रयोगेणाश्रु त्वद्विप्रयोगाश्रु ।

भावार्थः—अयि प्रिये ! माल्यवान्नामकस्य पर्वतस्याभ्रङ्कषं शिखरमग्रे विलोक्यते । यत्र वर्षासमये मेघैः प्रथमं विमुक्तं जलविन्दुं विलोक्य त्वद्वियोगे तस्योद्दीपकतया दुःखितेन मयापि बहुरुदितमासीदिति भावः ।

भाषार्थ—देखो, सामने जो यह माल्यवान् नामक पर्वत की गगनस्पर्शी ऊँची चोटी दिखाई पड़ रही है, वहाँ जब बादलों ने नया जल बरसाना आरम्भ किया था, तब तुम्हारे न रहने से मेरी आँखें जल बरसाने लगीं। अर्थात् यहाँ बरसते हुए मेघों को देखकर तुम्हारे लिए मैं खूब रोया था ॥ २६ ॥

गन्धश्च धाराहतपल्वलानां कादम्बमर्धोद्गतकेसरं च ।
स्निग्धाश्च केकाः शिखिनां बभूवुर्यस्मिन्नसह्यानि विना त्वया मे ॥ २७ ॥

अन्वयः—यस्मिन् धाराहतपल्वलानां गन्धः अर्द्धोद्गतकेसरं कादम्बं च स्निग्धाः शिखिनां केकाः त्वया विना मया असह्यानि बभूवुः ।

सञ्जी०—यस्मिञ्छृङ्गे धाराभिराहतानां पल्वलानां गन्धश्च अर्धोद्गतकेसरं कादम्बं नीपकुसुमं च स्निग्धाः मधुराः शिखिनां बर्हिणाम् । 'शिखिनौ वह्निबर्हिणौ' इत्यमरः । केकाश्च त्वया विना मेऽसह्यानि बभूवुः । 'नपुंसकमनपुंसकेन०' इति नपुंसकैकशेषः ।

व्याख्या—प्रिये ! यस्मिन्=माल्यवतः शृङ्गे । धाराहतपल्वलानां=वृष्टिधाराताडितानामल्पसरसाम् । गन्धः=सौरभम् । अर्द्धोद्गतकेसरं=अर्द्धप्रादुर्भूतकिञ्जल्कम् । कादम्बं=कदम्बपुष्पम् । स्निग्धाः=मधुराः । शिखिनां=मयूराणाम् । केकाः=मयूरवाण्यः । त्वया विना=भवत्या विना । मे=मम । असह्यानि=सोढुमशक्यानि । बभूवुः=जातानि ।

समासः—धाराभिः आहतानि धाराहतानि धाराहतानि च तानि पल्वलानि च धाराहतपल्वलानि तेषां धाराहतपल्वलानाम् । अर्द्धम् उद्गताः केसरा यस्मिन् तत् अर्द्धोद्गतकेसरम् । शिखा एषामस्तीति शिखिनः तेषां शिखिनाम् । सोढुं शक्यानि सह्यानि न सह्यानि असह्यानि ।

भावार्थः—सीते ! यस्मिन् माल्यवच्छिखरे निवसतो मे प्रथमं मेघजलधारा-

सम्पातेन पल्वलेभ्यः समुत्थितो गन्धः, अर्द्धोत्पन्ननीपकुसुमम्, मधुरा मयूरवाणी चेति सर्वाणीमानि उद्दीपकत्वात् त्वद्वियोगेन असह्यानि जातानीति भावः।

भाषार्थं—उस समय यहाँ वर्षा के कारण तालाबों से उठी हुई गन्ध अधखिले केशोंवाले कदम्ब के फूल और मयूरों के मनोहर शब्द तुम्हारे बिन मुझे असह्य हो गये ।। २७ ।।

पूर्वानुभूतं स्मरता च यत्र कम्पोत्तरं भीरु ! तवोपगूढम्।
गुहाविसारीण्यतिवाहितानि मया कथञ्चिद्घनगर्जितानि ।। २८ ।।

अन्वयः—हे भीरु ! यत्र पूर्वानुभूतं कम्पोत्तरं तवोपगूढं स्मरता मया गुहाविसारीणि घनगर्जितानि कथञ्चित् अतिवाहितानि।

सञ्जी०—किं च हे भीरु ! यत्र शृङ्गे पूर्वानुभूतं कम्पोत्तरं कम्पप्रधानं तवोपगूढमुपगूहनं मेघस्तनितश्रवणेन भीरु ! स्वभावत्वात्त्वया कृतमालिङ्गनमित्यर्थः। स्मरता मया गुहाविसारीणि घनगर्जितानि कथञ्चिदतिवाहितानि। स्मारकत्वेनोद्दीपकत्वात् क्लेशेन गमितानीत्यर्थः।

व्याख्या—हे भीरु !=अयि कातरे सीते ! यत्र=यस्मिन् माल्यवच्छिखरे। पूर्वानुभूतं=प्रागुपलब्धम्। कम्पोत्तरं=वेपथुप्रधानम्। तव=भवत्या। उपगूढं=आलिङ्गनं, मेघगर्जनश्रवणेन भीरुत्वात्त्वात्त्वया कृतमालिङ्गनम्। स्मरता=चिन्तयता। मया=रामेण। गुहाविसारीणि=कन्दराप्रतिध्वनितानि। घनगर्जितानि=मेघस्तनितानि। कथञ्चित्=केनापि प्रकारेण। अतिवाहितानि=यापितानि। उत्तेजकत्वात् महता क्लेशेन कथञ्चित् सोढानि।

समासः—पूर्वम् अनुभूतं पूर्वानुभूतम् तत् पूर्वानुभूतम्। कम्पः उत्तरो यस्मिन् तत् कम्पोत्तरम्। गुहासु विसरन्तीति गुहाविसारीणि। घनानां गर्जितानि घनगर्जितानि।

भावार्थः—हे कातरस्वभावे ! यत्र माल्यवच्छिखरे आवयोः संयोगावस्थायां घनगर्जिते सति त्वया भीत्या कृतं पूर्वानुभूतमालिङ्गनं स्मरन्नहं त्वद्विरहे उद्दीपकत्वेन कष्टकरत्वात् गुहासु प्रतिध्वनितानि मेघस्तनितानि दुःखेन सोढानीति भावः।

भाषार्थं—जब वहाँ बादल गरजते थे और गुफाओं में उसकी प्रतिध्वनि होने लगती थी तब तुम बादलों के भयंकर गर्जन से डरकर काँपती हुई मुझसे लिपट जाती थी, उन दिनों को स्मरण करके मैंने उन्हें बड़े कष्ट से बिताया है ।। २८ ।।

आसारसिक्तक्षितिबाष्पयोगान्मामक्षिणोद्यत्र विभिन्नकोशैः।
विडम्ब्यमाना नवकन्दलैस्ते विवाहधूमारुणलोचनश्रीः ।।२९ ।।

अन्वयः—यत्र विभिन्नकोशैः नवकन्दलैः आसारसिक्तक्षितिबाष्पयोगात् विडम्ब्यमाना ते विवाहधूमारुणलोचनश्रीः माम् अक्षिणोत् ।

सञ्जी०—यत्र शृङ्गे विभिन्नकोशैर्विकसितकुड्मलनवकन्दलैः कन्दलीपुष्पैररुणवर्णैरासारेण धारासम्पातेन। 'धारासम्पात आसारः' इत्यमरः। सिक्तायाः क्षितेर्बाष्पस्य धूमवर्णस्य योगाद्धेतोः विडम्ब्यमानाऽनुक्रियमाणा ते विवाहधूमेनारुणा लोचनश्रीः सादृश्यात्स्मर्यमाणेति शेषः । मामक्षिणोदपीडयत् ।

व्याख्या—सीते ! यत्र=माल्यवतः शिखरे । विभिन्नकोशैः=विकसितमुकुलैः । नवकन्दलैः=नूतनकन्दलीपुष्पैः । आसारसिक्तक्षितिबाष्पयोगात्=धारासम्पातोक्षितभूमिवाष्पसङ्गतेः । विडम्ब्यमानाः = अनुक्रियमाणाः । ते = तव । विवाहधूमारुणलोचनश्रीः = उद्वाहधूमरक्तनयनशोभा, सादृश्यात् स्मर्यमाणा । माम्= रामम् । अक्षिणोत् = अपीडयत् ।

समासः—आसारेण सिक्ता आसारसिक्ता आसारसिक्ता चासौ क्षितिश्चेति आसारसिक्तक्षितिः आसारसिक्तक्षितेः बाष्पं आसारसिक्तक्षितिबाष्पम् आसारसिक्तक्षितिबाष्पस्य योगः आसारसिक्तक्षितिबाष्पयोगः तस्मात् आसारसिक्तक्षितिबाष्पयोगात् । विभिन्ना कोशा येषां तानि विभिन्नकोशानि तैः विभिन्नकोशैः । नवानि च तानि कन्दलानि च नवकन्दलानि तैः नवकन्दलैः । विवाहस्य धूमः विवाहधूमः विवाहधूमेन अरुणा विवाहधूमारुणा । लोचनयोः श्रीः लोचनश्रीः विवाहधूमारुणा चासौ लोचनश्रीः इति विवाहधूमारुणलोचनश्रीः ।

भावार्थः—सीते ! माल्यवतः शिखरे विकसितमुकुलानि अरुणवर्णानि नूतनकन्दलीकुसुमानि प्रथमवृष्टिसिक्तभूमिबाष्पं च दर्शं दर्शं तव विवाहमण्डपे होमधूमेनारुणां नयनशोभां संस्मृत्याहं विषादेन पीडितोऽभवमिति भावः ।

भाषार्थ--धारा पूर्वक वर्षा होने से भीगी हुई पृथ्वी से जो वहाँ भाप निकलती थी उससे कन्दलियों की कलियाँ खिल उठीं और वैसी ही लाल हो गईं जैसे विवाह के समय होम का धुँआ लगने से तुम्हारी आँखें लाल हो गई थीं, यह स्मरण आ जाने से मुझे बड़ा कष्ट हुआ ।। २९ ।।

उपान्तवानीरवनोपगूढान्यालक्ष्यपारिप्लवसारसानि ।
दूरावतीर्णा पिबतीव खेदादमूनि पम्पासलिलानि दृष्टिः ।। ३० ।।

अन्वयः—उपान्तवानीरवनोपगूढानि आलक्ष्यपारिप्लवसारसानि अमूनि पम्पासलिलानि दूरावतीर्णा मे दृष्टिः खेदात् पिबति इव ।

सञ्जी०—उपान्तवानीरवनोपगूढानि पार्श्ववञ्जुलवनच्छन्नान्यालक्ष्याः ईषद्-

दृश्याः पारिप्लवाश्चञ्चलाः सारसा येषु तान्यमूनि पम्पासलिलानि पम्पासरोजलानि दूरादवतीर्णा मे दृष्टिरत्त एव खेदात्पिबतीव । न विहातुमुत्सहत इत्यर्थः ।

व्याख्या—हे सीते! उपान्तवानीरवनोपगूढानि=पार्श्ववञ्जुलविपिनच्छन्नानि। आलक्ष्यपारिप्लवसारसानि = ईषद्-दृश्यचञ्चलसारसानि । अमूनि=विप्रकृष्टस्थितानि । पम्पासलिलानि=पम्पासरोवरजलानि दूरादवतीर्णा । मे=मम रामस्य। दृष्टिः=नेत्रम् । खेदात्=अवसादात् । पिबतीव = धयतीव, न विहातुमुत्सहते ।

समासः—वानीराणां वनानि वानीरवनानि उपान्ते वानीरवनानि इति उपान्तवानीरवनानि उपान्तवानीरवनैः उपगूढानि उपान्तवानीरवनोपगूढानि तानि उपान्तवानीरवनोपगूढानि । आलक्ष्याः पारिप्लवाः सारसा येषु तानि आलक्ष्यपारिप्लवसारसानि तानि आलक्ष्यपारिप्लवसारसानि । दूरादवतीर्णा दूरावतीर्णा ।

भावार्थः—सीते ! पार्श्वस्थितैर्वञ्जुलवृक्षैरावृतानि पम्पासरोवरजलानि यत्र चञ्चला सारसपक्षिणः किञ्चित्कालमवस्थिता लक्ष्यन्ते । तानि दूरादेव कौतुकात् अधः समागते मे नयने सस्पृहं पश्यतः । भवतीं मार्गमाणोऽहं लक्ष्मणेन साकमहं किञ्चित्कालमात्र वासमकार्षमतो मेऽत्र महती प्रीतिर्विद्यते इति भावः ।

भाषार्थ—प्रिये ! देखो, अधिक ऊँचे होने के कारण और समीपस्थ वेतके जंगलों से ढँके रहने के कारण पम्पासर का पानी ठीक-ठीक नहीं दिखाई दे रहा है उन पर दूर से पड़ती हुई दृष्टि मानों खेद से उन्हें पी रही है ।। ३० ।।

अत्रावियुक्तानि रथाङ्गनाम्नामन्योऽन्यदत्तोत्पलकेसराणि ।
द्वन्द्वानि दूरान्तरवर्तिना ते मया प्रिये ! सस्पृहमीक्षितानि ।। ३१ ।।

अन्वयः—हे प्रिये ! अत्र अन्योऽन्यदत्तोत्पलकेसराणि अवियुक्तानि रथाङ्गनाम्नां द्वन्द्वानि ते दूरान्तरवर्तिना मया सस्पृह ईक्षितानि ।

सञ्जी०—अत्र पम्पासरस्यन्योन्यस्मै दत्तोत्पलकेसराण्यविभक्तानि रथाङ्गनाम्नां द्वन्द्वानि चक्रवाकमिथुनानि ते तव दूरान्तरवर्तिना दूरदेशवर्तिना मया हे प्रिये ! सस्पृहं साभिलाषमीक्षितानि । तदानीं त्वामस्मार्षमित्यर्थः ।

व्याख्या—हे प्रिये ! = हे वल्लभे ! अत्र=अस्मिन् पम्पासरसि । अन्योऽन्यदत्तोत्पलकेसराणि = परस्परविकीर्णकमलकिञ्जल्कानि । अवियुक्तानि = वियोगरहितानि संयुक्तानि । रथाङ्गनाम्नां = चक्रवाकानाम् । द्वन्द्वानि=मिथुनानि । ते=तव, सीतायाः । दूरान्तरवर्तिना=विप्रकृष्टदेशस्थितेन । मया=रामेण । सस्पृहं =साभिलाषम् । ईक्षितानि=अवलोकितानि । अविमुक्तानि ।

समासः—उत्पलानां केसराणि उत्पलकेसराणि अन्योऽन्यं दत्तानि उत्पलकेसराणि यैः तानि अन्योऽन्यदत्तोत्पलकेसराणि तानि अन्योऽन्यदत्तोत्पलकेसराणि। रथस्य अङ्गं रथाङ्गं रथाङ्गस्य नाम येषां ते रथाङ्गनामानः तेषां रथाङ्गनाम्नाम्। दूरान्तरे वर्तते इति दूरान्तरवर्ती तेन दूरान्तरवर्तिना। स्पृहया सह सस्पृहम्।

भावार्थः—अयि प्रिये! अस्मिन् पम्पासरसि चक्रवाकपक्षिणां संयुक्तानि मिथुनानि त्वद्वियुक्तोऽहमात्मनो मन्दभाग्यतां स्मरन् साभिलाषं पश्यन् त्वामस्मार्षमिति भावः।

भाषार्थ—हे प्रिये! यहाँ चकवा चकवी के जोड़े एक दूसरे को प्रेमपूर्वक कमल का केशर दिया करते थे, तुमसे दूर होने के कारण उन्हें देखकर मैं यही सोचा करता था कि मुझे भी ये दिन कब देखने को मिलेंगे ॥ ३१ ॥

इमां तटाशोकलतां च तन्वीं स्तनाभिरामस्तवकाभिनम्राम्।
त्वत्प्राप्तिबुद्ध्या परिरब्धुकामः सौमित्रिणा साश्रुरहं निषिद्धः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—स्तनाभिरामस्तवकानि नम्रां तन्वीं इमां तटाशोकलतां त्वत्प्राप्तिबुद्ध्या परिरब्धुकामः अहं सौमित्रिणा साश्रुः निषिद्धः।

सञ्जी०—किंच स्तनवदभिमऽराभ्यां स्तवकाभ्यामभिनम्रां तन्वीमिमां तटाशोकस्य लता शाखामतस्त्वत्प्राप्तिबुद्धया त्वमेव प्राप्तेः भ्रान्त्या परिरब्धुमालिङ्गितुं कामो यस्य सोऽहं सौमित्रिणा लक्ष्मणेन साश्रुर्निषिद्धः नेयं सीतेति निवारितः। परिरब्धुकाम इत्यत्र 'तुं काममनसोरपि' इति वचनान्मकारलोपः।

व्याख्या—प्रिये! स्तनाभिरामस्तबकाभिनम्रां=पयोधरमनोहरगुच्छावनताम्। तन्वीं=कृशाम्। इमां=एताम्। तटाशोकलतां=तीराशोकवल्लीम्। त्वत्प्राप्तिबुद्धया=त्वदासादनधिया, त्वमेव प्राप्तेति भ्रान्त्या। परिरब्धुकामः=आलिङ्गितुमिच्छुः। अहं=रामः। सौमित्रिणा=लक्ष्मणेन। साश्रुः=अश्रुसहितः। निषिद्धः=नेयं सीतेत्युक्त्वा निवारितः।

समासः—स्तनवत् अभिरामा स्तनाभिरामाः स्तनाभिरामाश्च ते स्तबकाः स्तनाभिरामस्तबकाः स्तनाभिरामस्तवकैः अभिनम्रा स्तनाभिरामस्तवकाभिनम्रा, तां स्तनाभिरामस्तवकाभिनम्राम्। अशोकस्य लता अशोकलता तटस्य अशोकलता तटाशोकलता तां तटाशोकलताम्। तव प्राप्तिः त्वत्प्राप्तिः त्वत्प्राप्तेः बुद्धिः त्वत्प्राप्तिबुद्धिः, यद्वा त्वत्प्राप्तिः इति बुद्धिः त्वत्प्राप्तिबुद्धिः, तया त्वत्प्राप्तिबुद्धया। परिरब्धुं कामो यस्य सः परिरब्धुकामः। अश्रुणा सह वर्तत इति साश्रुः। सुमित्रायाः अपत्यं पुमान् सौमित्रिः तेन सौमित्रिणा।

भावार्थः—अयि प्रिये ! पयोधरसदृशाभ्यां मनोहरपुष्पगुच्छाभ्यामवनतां तन्वीं तीरवर्तिनीमशोकलतां त्वमेव प्राप्तेति भ्रान्त्या आनन्दाश्रुं मुञ्चन् यदाहमालिङ्गितुं बाहू प्रसारितवान् तदा लक्ष्मणेन आर्य ! नेयमार्या वैदेही, अपि तु इयमस्त्यशोकलतेत्युक्त्वाऽहं निवारितः, इति भावः ।

भावार्थ—प्रिये ! तुम्हारे वियोग में मैं ऐसा पागल हो गया था कि एक दिन स्तन के समान मनोहर गुच्छे से झुकी हुई पतली तटवर्तिनी अशोक लता को मैंने यह समझकर गले लगाना चाहा था कि तुम ही हो । तब तक मेरे इस पागलपन को देखकर लक्ष्मण ने रोते हुए मुझे वहाँ से हटा दिया ।। ३२ ।।

अमूर्विमानान्तरलम्बिनीनां श्रुत्वा स्वनं काञ्चनकिङ्किणीनाम् ।
प्रत्युद्व्रजन्तीव खमुत्पतन्त्यो गोदावरीसारसपङ्क्तयस्त्वाम् ।। ३३ ।।

अन्वयः—विमानान्तरलम्बिनीनां काञ्चनकिङ्किणीनां स्वनं श्रुत्वा तव उत्पतन्त्यः गोदावरीसारसपङ्क्तयः त्वां प्रत्युद्व्रजन्ति इव ।

सञ्जी०—विमानस्यान्तरेष्ववकाशेषु लम्बन्ते यास्तासां काञ्चनकिङ्किणीनां स्वनं श्रुत्वा स्वयूथशब्दभ्रमात्खमाकाशमुत्पतन्त्योऽमूर्गोदावरीसारसपङ्क्तयस्त्वां प्रत्युद्व्रजन्तीव ।

व्याख्या—प्रिये ! विमानान्तरलम्बिनीनां=व्योमयानावकाशावस्रंसिनीनाम् । काञ्चनकिङ्किणीनां = सुवर्णक्षुद्रघण्टिकानाम् । स्वनं=शब्दम् । श्रुत्वा=आकर्ण्य । स्वयूथशब्दभ्रमात् । खम् = आकाशम् । उत्पतन्त्यः = उड्डीयमानाः । अमूः=एताः गोदावरीसारसपङ्क्तयः = गोदासारसावलयः । त्वां = भवतीं सीताम् । प्रत्युद्व्रजन्तीव = प्रत्युद्गच्छन्तीव ।

समासः—विमानस्यानन्तरं विमानान्तरम् विमानान्तरे लम्बते इति विमानान्तरलम्बिन्यः तासां विमानान्तरलम्बिनीनाम् । काञ्चनस्य किङ्किण्यः काञ्चनकिङ्किण्यः तासां काञ्चनकिङ्किणीनाम् । सारसानां पङ्क्तयः सारसपङ्क्तयः गोदावर्याः सारपङ्क्तयः गोदावरीसारसपङ्क्तयः ।

भावार्थः—प्रिये ! पुष्पकविमानमध्ये बद्धानां शब्दायमानकनकक्षुद्रघण्टिकानां शब्दमाकर्ण्य स्वयूथशब्दभ्रमादाकाशमुड्डीयमाना अमू गोदावरीजलविहरणशीलाः सारसपक्षिणां पङ्क्तयः तव स्वागतार्थं प्रत्युद्गच्छन्तीव प्रतीयन्त इति भावः ।

भावार्थ—यह देखो–विमान में लगे हुए छोटे-छोटे सुवर्ण के घूँघुरों की आवाज को सुनकर गोदावरी नदी के सारस पक्षियों की पंक्तियाँ अपने झुण्ड के

भ्रम से आकाश में ऊपर उड़ती हुई चली आ रही हैं, मानों ये तुम्हारी अगवानी करने आ रही हैं ॥ ३३ ॥

एषा त्वया पेशलमध्ययाऽपि घटाम्बुसंवर्धितबालचूता ।
आनन्दयत्युन्मुखकृष्णसारा दृष्टा चिरात्पञ्चवटी मनो मे ॥ ३४ ॥

अन्वयः—पेशलमध्ययापि त्वया घटाम्बुसंवर्द्धितबालचूता, उन्मुखकृष्णसारा च चिरात् दृष्टा एषा पञ्चवटी मे मनः आनन्दयति ।

सञ्जी०—पेशलमध्ययाऽपि, भाराक्षमयाऽपीत्यर्थः त्वया । घटाम्बुभिः संवर्धिता बालचूता यस्याः सा । उन्मुखा अस्मदभिमुखास्त्वत्संवर्धिता एव कृष्णसारा यस्याः सा चिराद् दृष्टैषा पञ्चवटी मे मन आनन्दयत्याह्लादयति । 'पञ्चवटी' शब्दः पूर्वमेव व्याख्यातः ।

व्याख्या—प्रिये ! पेशलमध्यया अपि=सुन्दरमध्यभागयाऽपि, तनुमध्यापि, गुरुभारा सहनयापि । त्वया=भवत्या । घटाम्बुसंवर्धितबालचूताः=कलशजलसमेधिताल्पाम्रवृक्षाः । उन्मुखकृष्णसाराः=ऊर्ध्वाननकृष्णसारमृगाः । चिरात्=बहुकालानन्तरम् । दृष्टा=अवलोकिता । एषा=इयम् । पञ्चवटी मे=मम रामस्य । मनः=चित्तम् । आनन्दयति=आह्लादयति ।

समासः—पेशलं मध्यं यस्या सा पेशलमध्या तया पेशलमध्यया । घटस्य अम्बूनि घटाम्बूनि बालाश्च ते चूता बालचूताः घटाम्बुभिः संवर्द्धिता बालचूताः यस्या सा घटाम्बुसंवर्द्धितबालचूताः । उद्गते मुखं येषां ते उन्मुखाः, उन्मुखाः कृष्णसारा यस्याः सा उन्मुखकृष्णसारा । पञ्चानां वटानां समाहारः पञ्चवटी ।

भावार्थः—प्रिये ! कृशोदर्याऽपि त्वया यत्र सस्नेहं कलशजलेन बालचूताः संवर्द्धिताः, यत्रत्याः कृष्णसारा मृगा पुष्पकविमानशब्दमाकर्ण्य अस्मानवलोक्य च तव स्नेहादिकं स्मरन्त उन्मुखा वर्तन्ते । बहुकालानन्तरं दृष्टा सा पञ्चवटी मदीयं मन आह्लादयति ।

भाषार्थ—बहुत दिनों पर पञ्चवटी को देखकर आज मेरा हृदय खिल उठा है । वह देखो, यहाँ के मृग ऊपर शिर उठाकर विमान को देख रहे हैं । यहीं पर तो तुमने अपनी पतली कमर पर घड़े लेकर छोटे-छोटे आम के वृक्षों को सींचकर पाला-पोसा था ॥ ३४ ।

अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरङ्गवातेन विनीतखेदः ।
रहस्त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—अत्र अनुगोदं मृगयानिवृत्तः तरंगवातेन विनीतखेदः रहः त्वदुत्सङ्ग-निषण्णमूर्धा (सन् अहं) वानीरगृहेषु सुप्तः स्मरामि ।

सञ्जी०—अत्र पञ्चवट्यां गोदा गोदावरी तस्याः समीपेऽनुगोदम् । 'अनुर्यत्समया' इत्यव्ययीभावः । मृगयाया निवृत्तस्तरङ्गवातेन विनीतखेदो रहो रहसि । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा सन्नहं वानीरगृहेषु सुप्तः स्मरामि । वाक्यार्थः कर्म । सुप्त इति यत्तत्स्मरामीत्यर्थः ।

व्याख्या—प्रिये ! अत्र=पञ्चवट्याम् । अनुगोदं=गोदावरीपरिसरे । मृगया-निवृत्तः=आखेटपरावृत्तः । तरङ्गवातेन=ऊर्मिवायुना । विनीतखेदः=अपगतपरि-श्रमः । रहः=रहसि । त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा=त्वदङ्कनिहितमस्तकः सन् अहम् । वानीरगृहेषु=वेतसकुञ्जेषु । सुप्तः=निद्राणः । यत्, तत् स्मरामि=चिन्तयामि ।

समासः—गोदायाः समीपे अनुगोदम् । मृगयाया निवृत्तः मृगयानिवृत्तः । तरङ्गानां वातः तरङ्गवातः तेन तरङ्गवातेन । विनीतः खेदो यस्य स विनीतखेदः । तव उत्सङ्गः त्वदुत्सङ्गः त्वदुत्सङ्गे निषण्णः मूर्धा यस्य सोऽहं त्वदुत्सङ्गनिषण्ण-मूर्धा । वानीराणां गृहाणि वानीरगृहाणि तेषु वानीरगृहेषु ।

भावार्थः—प्रिये ! अस्याः पञ्चवट्या गोदावरीपरिसरे मृगयातो निवृत्तोऽहं शीतलेन गोदावरीतरङ्गवायुना विगतश्रमः एकान्ते त्वदुत्सङ्गे शिरो निधाय वेतस-कुञ्जेषु यदनेकवारं सानन्दं प्रसुप्तोऽभूवं तत् वृत्तमद्यापि स्मरामीति भावः ।

भाषार्थ—मुझे उन दिनों का स्मरण हो रहा है, जब मैं यहाँ एकान्त में बेंतों के कुञ्जों में तुम्हारी गोद में सिर रखकर सोया करता था और गोदावरी की ठण्डी हवा मेरे शिकार के श्रम को मिटाया करती थी ॥ ३५ ॥

भ्रूभेदमात्रेण पदान्मघोनः प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार ।
तस्याविलाम्भः परिशुद्धिहेतोर्भौमो मुनेः स्थानपरिग्रहोऽयम् ॥ ३६ ॥

अन्वयः—यः भ्रूभेदमात्रेण नहुषं मघोनः पदात् प्रभ्रंशयां चकार आविलाम्भः परिशुद्धहेतोः तस्य मुनेः भौमः स्थानपरिग्रहः अयम् (अस्ति) ।

सञ्जी०—यो मुनिर्भ्रूभेदमात्रेण भ्रूभङ्गमात्रेणैव नहुषं राजानं मघोनः पदादिन्द्रत्वात्प्रभ्रंशयाञ्चकार प्रभ्रंशयति स्म । आविलाम्भः परिशुद्धिहेतोः कलुष-जलप्रसादहेतोस्तस्य मुनेरगस्त्यस्य अगस्त्योदये शरदि जलं प्रसीदतीत्युक्तं प्राक् । भूमौ भवो भौमः । स्थानपरिग्रह आश्रमोऽयं दृश्यत इति शेषः । भौम इत्यनेन दिव्योऽप्यस्तीत्युक्तम् । परिगृह्यत इति परिग्रहः स्थानमेव परिग्रह इति विग्रहः ।

व्याख्या—प्रिये ! यः=अगस्त्यमुनिः । भ्रूभेदमात्रेण=भ्रूभङ्गेनैव । नहुषं=

सोमवंशोद्भवमुपपन्नं राजानं नहुषम् । मघोनः=इन्द्रस्य । पदात्=स्थानात् इन्द्रत्वात् । प्रभ्रंशयाञ्चकार=पातयामास । आविलाम्भःपरिशुद्धिहेतोः, कलशजलप्रसादकारणस्य, तस्य=पूर्वोक्तस्य । मुनेः=ऋषेः, अगस्त्यस्य । अयम्=एष । भौमः=पार्थिवः । स्थानपरिग्रहः=आश्रमो दृश्यते ।

समासः—भ्रुवो भेदः भ्रूभेदः, भ्रूभेद एव भ्रूवेदमात्रं तेन भ्रूभेदमात्रेण । आविलानि च तानि अम्भांसि च आविलाम्भासि आविलाम्भसां परिशुद्धिरिति आविलाम्भःपरिशुद्धिः आविलाम्भःपरिशुद्धेः हेतुरिति आविलाम्भःपरिशुद्धिहेतुः तस्य आविलाम्भःपरिशुद्धिहेतोः । भूमौ भवः भौमः । परिगृह्यते इति परिग्रहः स्थानमेव परिग्रहः स्थानपरिग्रहः ।

भावार्थः—प्रिये ! योऽगस्त्यमुनिः इन्द्रस्य ब्रह्महत्यावसरे देवैरिन्द्रासनेऽभिषिक्तं शचीसमागमाय सप्तर्षिभिर्वाह्यमानां शिविकामारुह्य त्वरयन्तं चन्द्रवंशीयं प्रतापिनं राजानं नहुषं क्रोधात् भ्रूभङ्गमात्रेण महेन्द्रपदात् प्रच्यावितवान् । तस्यैवागस्त्यमुनेः सम्मुखवर्ती पृथिव्यां वर्तमानोऽयमाश्रमो दृश्यते । शरदि यस्योदयेन वर्षाकाल कलुषितं जलं निर्मलं जायते । अयं हि सप्तर्षिषु गणितो दिवि अपि तिष्ठति देवकार्यार्थं दक्षिणं दिशमशिश्रियदिति पौराणिकी कथाऽत्रानुसन्धेयेति भावः ।

भाषार्थ—यह देखो, सामने ही उस अगस्त्य मुनि का आश्रम है, जिन्होंने केवल भृकुटी टेढ़ी करके (शाप देकर) राजा नहुषको इन्द्र-पद से गिरा दिया । ये जब उदय होते हैं, तब वर्षा का गन्दा जल स्वच्छ हो जाता है ॥ ३६ ॥

त्रेताग्निधूमाग्रमनिन्द्यकीर्तेस्तस्येदमाक्रान्तविमानमार्गम् ।
घ्रात्वा हविर्गन्धि रजोविमुक्तः समश्नुते मे लघिमानमात्मा ॥ ३७ ॥

अन्वयः—अनिन्द्यकीर्तेः तस्य आक्रान्तविमानमार्गं हविर्गन्धि त्रेताग्निधूमाग्रं घ्रात्वा रजोविमुक्तः मे आत्मा लघिमानं समश्नुते ।

सञ्जी०—अनिन्द्यकीर्तेस्तस्यागस्त्यस्य, आक्रान्तविमानमार्गं हविर्गन्धोऽस्यास्तीति हविर्गन्धि त्रेताग्नित्रयम् । 'अग्नित्रयमिदं त्रेता' इत्यमरः । पृषोदरादित्वादेत्वम् । त्रेताग्नेर्धूमाग्रमिदं घ्रात्वाऽऽघ्राय रजसो गुणाद्विमुक्तो मे ममात्मान्तःकरणं लघिमानं लघुत्वगुणं समश्नुते प्राप्नोति ।

व्याख्या—प्रिये ! अनिन्द्यकीर्तेः=प्रशंसनीययशसः । तस्य=अगस्त्यमुनेः । आक्रान्तविमानमार्गं=आकाशव्यापी । हविर्गन्धि=चरुपुरोडाशादिसौरभयुक्तम् । त्रेताग्निधूमाग्रं = अग्नित्रयधूमाग्रभागम् । घ्रात्वा = समाघ्राय । रजोविमुक्तः=

रजोगुणरहितः । मे=मम । आत्मा=अन्तःकरणम् । लघिमानं=लघुत्वगुणम् । समश्नुते=प्राप्नोति ।

समासः—धूमस्य अग्रं धूमाग्रं त्रेताग्नेः धूमाग्रं त्रेताग्निधूमाग्रं तत् त्रेताग्निधूमाग्रम् । निन्दितुं योग्या निन्द्या न निन्द्या अनिन्द्या अनिन्द्या कीर्तिर्यस्य सः अनिन्द्यकीर्तिः तस्य अनिन्द्यकीर्तेः । विमानस्य मार्गः विमानमार्गः आक्रान्तो विमानमार्गो येन तत् आक्रान्तविमानमार्गम् । हविषः गन्धोऽस्यास्तीति हविर्गन्धि तत् हविर्गन्धि । रजसो विमुक्तः रजोविमुक्तः । लघोर्भावः लघिमा तं लघिमानम् ।

भावार्थः—प्रिये ! श्लाघनीययशसः तस्यागस्त्यमुनेः आकाशे व्याप्तं चरुपुरोडाशादिहविर्गन्धि अग्नित्रयसमुत्थितं धूमं घ्रात्वा रजोगुणरहितं मामकीनमन्तःकरणं साम्प्रतं लाघवमाप्नोतीति भावः ।

भावार्थ—उसी प्रशंसनीय यशवाले अगस्त्य ऋषि द्वारा गार्हपत्य, दाक्षिणात्य एवं आहवनीय अग्नियों में दी गयी हवन सामग्री की गन्ध से मिला हुआ यह धुआँ विमान के पास तक उठा चला आ रहा है जिसे सूँघते ही मेरी आत्मा पवित्र हो गयी और मेरे अन्तःकरण से रजोगुण निकल गया । अर्थात मैं शान्ति का अनुभव कर रहा हूँ ।। ३७ ।।

एतन्मुनेर्मानिनि ! शातकर्णेः पञ्चाप्सरो नाम विहारवारि ।
आभाति पर्यन्तवनं विदूरान्मेघान्तरालक्ष्यमिवेन्दुबिम्बम् ।। ३८ ।।

अन्वयः—हे मानिनि ! शातकर्णेः मुनेः पञ्चाप्सरो नाम पर्यन्तवनं एतत् विहारवारि विदुरात् मेघान्तरालक्ष्यं इन्दुबिम्बं इव आभाति ।

सञ्जी०—हे मानिनि ! शातकर्णेर्मुनेः सम्बन्धि पञ्चाप्सरो नाम पञ्चाप्सर इति प्रसिद्धम् । पञ्चाप्सरो यस्मिन्निति विग्रहः पर्यन्तेषु वनानि यस्य तत्पर्यन्तवनमेतद्विहारवारि क्रीडासरो विदूरात् मेघानामन्तरे मध्य आलक्ष्यमीषद्दृश्यम् । 'आङीषदर्थेऽभिव्याप्तौ' इत्यमरः । इन्दुबिम्बमिह आभाति ।

व्याख्या—हे मानिनि !=अभिमानयुक्ते सीते ! शातकर्णेः=शातकर्णिनामकस्य । मुनेः=तपस्विनः । पञ्चाप्सरो नाम=पञ्चाप्सरो नाम्ना प्रसिद्धम् । पर्यन्तवनं=उपान्तारण्यम् । एतत्=इदम् । विहारवारि=क्रीडासरः । विदूरात्=विप्रकृष्टप्रदेशात् । मेघान्तरालक्ष्यं = वारिदमध्ये ईषद् दृश्यम् । इन्दुबिम्बमिव=चन्द्रमण्डलमिव । आभाति=शोभते ।

समासः—मानः अस्या अस्तीति मानिनी तत्सम्बुद्धौ हे मानिनि !, शातकर्णस्यापत्यं शातकर्णिः तस्य शातकर्णेः । पञ्चाप्सरसः यस्मिन् तत् पञ्चाप्सरः ।

पर्यन्तेषु वनानि यस्य तत् पर्यन्तवनम् । विहारस्य वारि विहारवारि । मेघाना-मन्तरं मेघान्तरम्, आलक्षितुं योग्यमालक्ष्यं मेघान्तरे आलक्ष्यं मेघान्तरालक्ष्यम् । इन्दोः बिम्बमिन्दुबिम्बम् ।

भावार्थः—अयि मानिनि सीते ! एतत् पुरो दृश्यमानं सरः शातकर्णिमुनेः पञ्चाप्सर इति नाम्ना प्रसिद्धमस्ति, यस्य पर्यन्तेषु वनानि वर्तन्ते । श्यामलवनमध्ये शुभ्रमिदं क्रीडाजलं दूरात् मेघमध्ये ईषद्दर्शनीयं चन्द्रमण्डलमिव शोभते । तत् पश्येति भावः ।

भाषार्थ—हे मानिनी प्रिये ! यह आगे शातकर्णी ऋषि का पञ्चाप्सर नामक क्रीडा सरोवर चारों ओर काले-काले जंगलों से घिरा हुआ दूर से ऐसा दिखाई पड़ रहा है, मानो बादलों के बीच में कुछ दिखाई देनेवाला चमकीला चन्द्रमा का बिम्ब हो ।। ३८ ।।

पुरा स दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिश्चरन्मृगैः सार्धमृषिर्मघोना ।
समाधिभीतेन किलोपनीतः पञ्चाप्सरोयौवनकूटबन्धम् ॥ ३९ ॥

अन्वयः—पुरा दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिः मृगैः सार्द्धं चरन् स ऋषिः समाधिभीतेन मघोना पञ्चाप्सरोयौवनकूटबन्धं उपनीतः किल ।

सञ्जी०—पुरा पूर्वस्मिन्काले दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिस्तन्मात्राहारो मृगैः सार्धं सह चरन्स ऋषिः समाधेस्तपसो भीतेन मघोनेन्द्रेण पञ्चानामप्सरसां यौवनम् । 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्यनेनोत्तरपदसमासः । तदेव कूटबन्धं कपटयन्त्र-मुपनीतः । 'उन्माथः कूटयन्त्रं स्यात्' इत्यमरः। किलेत्यैतिह्ये । मृगसाहचर्यान्मृग-वदेव बद्ध इति भावः ।

व्याख्या—प्रिये ! पुरा=पूर्वस्मिन् काले । दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिः=कुशाङ्कुर-मात्राहारः । मृगैः=हरिणैः । सार्धं=साकम् । चरन्=गच्छन् । सः=पूर्वोक्तः । ऋषिः=मुनिः । शातकर्णिः । समाधिभीतेन=तपश्चरणत्रस्तेन । मघोना= महेन्द्रेण । पञ्चाप्सरोयौवनकूटबन्धं=अप्सरःपञ्चकतारुण्यकपटयन्त्रम् । उपनीतः= प्रापितः । मृगसाहचर्यात् मृगवदेव बद्धः ।

समासः—दर्भाणामङ्कुराः दर्भाङ्कुराः दर्भाङ्कुरा एव दर्भाङ्कुरमात्रं वृत्तिः यस्य स दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिः । समाधेः भीतः समाधिभीतः तेन समाधिभीतेन । पञ्चानामप्सरसां यौवनमेव कूटबन्ध इति पञ्चाप्सरोयौवनकूटबन्धः तं पञ्चाप्सरो-यौवनकूटबन्धम् ।

भावार्थः—पूर्वकाले कुशाङ्कुरमात्रमाहारं कुर्वतः मृगैः साकं सञ्चरतश्च शात-

र्णिमुनेः उग्रतपस्यया भीतो मघवा तं मोहयित्वा तपसश्च्यावयितुं पञ्चयुवती अप्सरसः प्रेषयामासेति भावः।

भावार्थ—पहले ये ऋषि तपस्या करते समय मृगों के साथ केवल कुशांकु खाकर जीवन निर्वाह करते थे, इनकी ऐसी उग्र तपस्या देखकर इन्द्र को यह भ हो गया कि कहीं ये हमारा इन्द्रासन न छीन लें। इसलिए इनको तप से डिगा के लिए इन्द्र ने एक साथ पाँच अप्सराओं का जाल इन पर फेंका और ये बेचा उनके कपट जाल में फँस गये। अर्थात् इन्द्र ने इनके तप से डरकर पाँच अप्स राओं को भेजकर इन्हें तप से च्युत कर दिया॥ ३९॥

तस्यायमन्तर्हितसौधभाजः प्रसक्तसंगीतमृदङ्गघोषः।
वियद्गतः पुष्पकचन्द्रशालाः क्षणं प्रतिश्रुन्मुखराः करोति॥ ४०॥

अन्वयः—अन्तर्हितसौधभाजः तस्य अयं प्रसक्तसंगीतमृदङ्गघोषः वियद्गत (सन्) पुष्पकचन्द्रशालाः क्षणं प्रतिश्रुन्मुखराः करोति।

सञ्जी०—अन्तर्हितसौधभाजो जलान्तर्गतप्रासादगतस्य तस्य शातकर्ण प्रसक्तः संततः संगीतमृदङ्गघोषो वियद्गतः सन्पुष्पकस्य चन्द्रशालाः शिरोगृहाणि 'चन्द्रशाला शिरोगृहम्' इति हलायुधः। क्षणं प्रतिश्रुद्भिः प्रतिध्वानैर्मुखा ध्वनन्तीः करोति। 'स्त्री प्रतिश्रुत्प्रतिध्वाने' इत्यमरः।

व्याख्या—प्रिये! अन्तर्हितसौधभाजः=जलाभ्यन्तरप्रसादस्थितस्य। तस्य शातकर्णिमुनेः। अयं=एष श्रूयमाणः। प्रसक्तसङ्गीतमृदङ्गघोषः=प्रवृत्तगानमुरज शब्दः। वियद्गतः=आकाशव्याप्तः सन् पुष्पकचन्द्रशालाः= पुष्पकविमानस्योपरि तलानि। क्षणं=किञ्चित् कालम्। प्रतिश्रुन्मुखराः=प्रतिध्वानैः ध्वनन्तीः शब्दाय मानाः। करोति=विदधाति।

समासः—अन्तर्हितं तत् सौधमिति अन्तर्हितसौधम् अन्तर्हितसौधं भजती अन्तर्हितसौधभाक् तस्य अंतर्हितसौधभाजः। सङ्गीतं च मृदङ्गं च अनयोः समाहा सङ्गीतमृदङ्गं सङ्गीतमृदङ्गस्य घोषः सङ्गीतमृदङ्गघोषः प्रसक्तश्चासौ सङ्गी मृदङ्गघोषश्चेति प्रसक्तसङ्गीतमृदङ्गघोषः। वियद् गतः वियद्गतः। पुष्पक चन्द्रशाला पुष्पकचन्द्रशाला ताः पुष्पकचन्द्रशालाः। प्रतिश्रुद्भिः मुखराः प्र श्रुन्मुखराः ता प्रतिश्रुन्मुखराः।

भावार्थः—प्रिये! महेन्द्रप्रहिताभिः ताभिः पञ्चभिः अप्सरोभिः साकं विहार तेन शातकर्णिमुनिना एकं विचित्रं भवनं निर्मितम्। तत्र निरन्तरं प्रचलतोः गा

मुरजयोः आकाशव्यापी ध्वनिः पुष्पकविमानं प्रविश्यास्योपरितलं किञ्चित्कालं प्रतिध्वनिभिः शब्दायमानं करोतीति भावः।

भावार्थ—यह जो नाच-गान सुनाई दे रहा है वह जलके भीतर बने हुए उन्हीं के भवन का है, वहीं के मृदंग की ध्वनि आकाश में पुष्पक बिमान से टकराकर गूंज रही है ॥ ४० ॥

हविर्भुजामेधवतां चतुर्णां मध्ये ललाटन्तपसप्तसप्तिः।
असौ तपस्यत्यपरस्तपस्वी नाम्ना सुतीक्ष्णश्चरितेन दान्तः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—नाम्ना सुतीक्ष्णः चरितेन दान्तः असौ अपरः तपस्वी एधवतां चतुर्णां हविर्भुजां मध्ये ललाटन्तपसप्तसप्तिः तपस्यति।

सञ्जी०—नाम्ना सुतीक्ष्णः सुतीक्ष्णनामा चरितेन दान्तः सौम्योऽसावपरस्तपस्वी एधवतामिन्धनवताम् 'काष्ठं दार्विन्धनं त्वेधः' इत्यमरः। चतुर्णां हविर्भुजामग्नीनां मध्ये ललाटं तपतीति ललाटन्तपः सूर्यः। 'असूर्यललाटयोर्दृशितपोः' इति खश्प्रत्ययः। 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इत्यनेन मुमागमः। ललाटन्तपः सप्तसप्तिः सप्ताश्वः सूर्यो यस्य स तथोक्तः सन्। तपस्यति 'कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्तिचरोः' इति क्यङ्। 'तपसः परस्मैपदं च' इति वक्तव्यम्।

व्याख्या—प्रिये ! नाम्ना=अभिधानेन। सुतीक्ष्णः=सुतीक्ष्णनामा। चरितेन=चरित्रेण। दान्तः=तपःक्लेशसहः। असौ=दूरस्थः। अपरः=अन्यः। तपस्वी=तापसः। एधवतां=इन्धनयुक्तानाम्। चतुर्णां=चतुःसंख्याकानाम्, दिक्चतुष्टयस्थितानाम्। हविर्भुजां=अग्नीनाम्। मध्ये=अन्तरे। ललाटन्तपसप्तसप्तिः=सूर्याभिमुखः सन् तपस्यति=तपश्चरति। एवं पश्येत्यर्थः।

समासः—एधा एषां सन्तीति एधवन्तः तेषाम् एधवताम्। हवींषि भुञ्जन्तीति हविर्भुजः तेषां हविर्भुजाम्। ललाटं तपतीति ललाटन्तपः सप्त सप्तयो यस्य स सप्तसप्तिः, ललाटन्तपः सप्तसप्तिर्यस्य स ललाटन्तपसप्तसप्तिः।

भावार्थ—प्रिये ! सुतीक्ष्णनामकः तपःक्लेशसहोऽसावपरः तपस्वी मुनिः। चतुर्षु दिक्षु ज्वलतश्चतुरोऽग्नीनाधाय स्वयं तन्मध्ये स्थितः पञ्चाग्निषु सूर्यस्यापि गणनया गगनस्य मध्याह्नसूर्याभिमुखः सन् पञ्चाग्नितपः करोतीति भावः।

भावार्थ—ये जो इन्धनयुक्त चार अग्नियों के बीच में ललाट पर सूर्य की किरणों से तपते हुए तपस्वी बैठे हैं इनका नाम सुतीक्ष्ण है, ये चरित्र से बड़े सीधे और शान्त हैं ॥ ४१ ॥

अमुं सहासप्रहितेक्षणानि व्याजार्धसंदर्शितमेखलानि ।
नालं विकर्तुं जनितेन्द्रशङ्कं सुराङ्गनाविभ्रमचेष्टितानि ॥ ४२ ॥

अन्वय:—जनितेन्द्रशङ्कं अमुं सप्रहितेक्षणानि व्याजार्धसंदर्शितमेखलानि सुराङ्गनाविभ्रमचेष्टितानि विकर्तुं न अलम् अस्ति ।

सञ्जी०—जनितेन्द्रशङ्कं जनिता इन्द्रस्य शङ्का भयं येन तं, तपसेति शेषः। अमुं सुतीक्ष्णं सहासं प्रहितानीक्षणानि दृष्टयो येषु तानि व्याजेन केनचिन्मिषेण। 'पुंस्योऽर्धं समेंऽशके' इति विश्वः । अर्धमीषत्संदर्शिता मेखला काञ्ची येषु तानि सुराङ्गनानामिन्द्रप्रेषितानां विभ्रमा विलासा एव चेष्टितानि विकर्तुं स्खलयितुमलं समर्थानि न, बभूवुरिति शेषः ।

व्याख्या—जनितेन्द्रशङ्कं = उत्पादितपुरुहूतसन्देहम् । अमुं = सुतीक्षणमुनिम्। सहासप्रहितेक्षणानि = हास्यपूर्वकप्रेरितनेत्राणि । व्याजार्धसन्दर्शितमेखलानि = अपदेशेषत्प्रदर्शितरशनानि । सुराङ्गनाविभ्रमचेष्टितानि = अप्सरोविलासचेष्टा विकर्तुं = स्खलयितुम् । अलं = समर्थानि । न बभूवुः = महेन्द्र प्रहिता अप्सरसोऽपि सुतीक्ष्णस्य मुनेः तपः स्खलयितु' न समर्था अभूवन् ।

समासः—इन्द्रस्य शङ्का इन्द्रशङ्का जनिता इन्द्रशङ्का येन सज नितेन्द्रशङ्कः हासेन सह वर्तते इति सहासं सहासं प्रहितानि ईक्षणानि येषु तानि सहासप्रहितेक्षणानि । व्याजेन अर्धं यथा स्यात्तथा सन्दर्शिता मेखलाः येषु तानि व्याजार्धसन्दर्शितमेखलानि । विभ्रमाणां चेष्टितानि विभ्रमचेष्टितानि सुराणामङ्ना सुराङ्गनाः सुराङ्गनानां विभ्रमचेष्टितानि सुराङ्गनाविभ्रमचेष्टितानि तानि सुराङ्गनाविभ्रमचेष्टितानि ।

भावार्थः—प्रिये ! देवेन्द्रप्रहिताऽप्सरसः कामोद्दीपकचेष्टया हासपूर्वककटाक्षवीक्षणेन सव्याजं प्रदर्शितगुह्याङ्गेन च एष मुनिः तपसा ममेन्द्रपदमभिलषतीतीन्द्रस्य शङ्कां जनयन्तमेनं सुतीक्ष्णमुनिं स्खलयितुं न समर्था अभूवन्निति भावः ।

भाषार्थ—इनकी तपस्या से डरकर इन्द्र ने इनके पास भी अप्सराओं को भेजा । वे मुस्करा कर तिरछी निगाहें चलाती नाचती-गाती हुई किसी बहाने अपनी करधनी को उघारकर दिखा देती थीं, पर उनको यह सब चटक-मटक इन्हें न लुभा सकी ॥ ४२ ॥

एषोऽक्षमालावलयं मृगाणां कण्डूयितारं कुशसूचिलावम् ।
सभाजने मे भुजमूर्ध्वबाहुः सव्येतरं प्राध्वमितः प्रयुङ्क्ते ॥ ४३ ॥

अन्वयः—ऊर्ध्ववाहुः एषः अक्षयमालावलयं मृगाणां कण्डूयितारं कुशसूचिलावं सव्येतरं भुजं मे सभाजने इतः प्राध्वं प्रयुङ्क्ते।

सञ्जी०—ऊर्ध्ववाहुरेष सुतीक्ष्णोऽक्षमालैव वलयं यस्य तं मृगाणां कण्डूयितारं कुशा एव सूचयस्ता लुनातीति कुशसूचिलावस्तम्। 'कर्मण्यण्' इत्यण्। एभिर्विशेषणैर्जंयशीलत्वं भूतदया कर्मक्षमत्वं च द्योत्यते। सव्यादितरं दक्षिणं भुजं मे मम सभाजने सम्माननिमित्ते। 'निमित्तात्कर्मयोगे' इति सप्तमी। इतः प्राध्वं प्रकृतानुकूलवन्धं प्रयुङ्क्ते प्रेरयति। 'आनुकूल्यार्थकं प्राध्वम्' इत्यमरः। अव्ययं चैतत्।

व्याख्या—हे प्रिये ! ऊर्ध्ववाहुः=उच्छ्रितभुजः उद्गतहस्तः। एषः=सुतीक्ष्णो मुनिः। अक्षमालावलयं = अक्षमालाकङ्कणम्। मृगाणाम् = हरिणानाम्। कण्डूयितारं = खर्जनकर्तारं, कण्डूविनोदकम्। कुशसूचिलावं = दर्भसूचिच्छेदकम्। सव्येतरं = दक्षिणम्। भुजम् = वाहुम्। मे = मम। सभाजने=सम्माननिमित्ते। इतः = अत्र। प्राध्वं=प्रकृतानुकूलवन्धं, प्रयुङ्क्ते=प्रेरयति, दर्शयति।

समासः—ऊर्ध्वो बाहुः यस्य स ऊर्ध्वबाहुः। अक्षाणां माला अक्षमाला अक्षमालैव वलयो यस्य सः अक्षमालावलयः तम् अक्षमालावलयम्। कुशानां सूचयः कुशसूचयः कुशसूचीः लुनातीति कुशसूचिलावः तं कुशसूचिलावम्। सव्यादितरः सव्येतरः तं सव्येतरम्।

भावार्थः—प्रिये ! उर्ध्ववाहुः एष सुतीक्ष्णो मुनिः जपमालारूपकङ्कणधारिणं मृगाणां कण्डूतिमपनयन्तं होमार्थं कुशच्छेदकं दक्षिणं भुजं मम सम्माननिमित्तं मदभिमुखं करोतीति पश्यैनमिति भावः।

भावार्थ—देखो वे मुझे देखकर रुद्राक्ष की माला बँधी हुई, मृगों को खुजलाने वाली और कुश उखाड़ने वाली अपनी दाहिनी भुजा को उठाकर मेरा स्वागत कर रहे हैं ॥ ४३ ॥

वाचंयमत्वात्प्रणतिं ममैष कम्पेन किञ्चित्प्रतिगृह्य मूर्ध्नः।
दृष्टिं विमानव्यवधानमुक्तां पुनः सहस्रार्चिषि सन्निधत्ते ॥ ४४ ॥

अन्वयः—एषः वाचंयमत्वात् मम प्रणतिं किञ्चित् मूर्ध्नः प्रतिगृह्य विमानव्यवधानमुक्तां दृष्टिं पुनः सहस्रार्चिषि सन्निधत्ते।

सञ्जी०—एष सुतीक्ष्णः वाचं यच्छति नियमयतीति वाचंयमो मौनव्रती। 'वाचि यमो व्रते' इति खच्प्रत्ययः। 'वाचंयमपुरन्दरौ च' इति मुम्। तस्य भावस्तत्त्वान्मम प्रणतिं किञ्चिन्मूर्ध्नः कम्पेन प्रतिगृह्य विमानेन व्यवधानं तिरो-

धानं तस्मान्मुक्तम् । 'अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तैरल्पशः' इत्यनेन पञ्चमीसमासः दृष्टिं पुनः सहस्रार्चिषि सूर्ये सन्निधत्ते सम्यङ्निधत्त इत्यर्थः । अन्यथाऽकर्मकत्व प्रसङ्गात् ।

व्याख्या—हे प्रिये ! एषः=सुतीक्ष्णमुनिः । वाचंयमत्वात्=मौनव्रतित्वात् मम=रामस्य । प्रणतिं=प्रणामम् । किञ्चित्=ईषत् । मूर्ध्नः=शिरसः कम्पेन=वेपथुना । प्रतिगृह्य । विमानव्यवधानमुक्तां=पुष्पकविमानतिरोधान मुक्ताम् । दृष्टिं=नेत्रम् । पुनः=भूयः । सहस्रार्चिषि=सूर्ये । सन्निधत्ते=सम्यक् प्रवर्तयति निदधाति ।

समासः—वाचं यच्छतीति वाचंयमः वाचंयमस्य भावः वाचंयमत्वम् तस्मा वाचंयमत्वात् । विमानस्य व्यवधानं विमानव्यवधानं विमानव्यवधानात् मुक्त विमानव्यवधानमुक्ता ताम् विमानव्यवधानमुक्ताम् । सहस्रं अर्चिषो यस्य सहस्रार्चिषः तस्मिन् सहस्रार्चिषि ।

भावार्थः—प्रिये ! एष मुनिः मौनव्रतधारणात् किमपि अकथयित्वा स्तो शिरःकम्पनेन मदीयं प्रणामं प्रतिगृह्य पुष्पकविमानव्यवधानरहितं निजं ने पुनः भगवति भास्करे प्रवर्तयति, संयोजयतीति भावः ।

भावार्थ—ये मौन रहते हैं इसलिए इन्होंने केवल सिर हिलाकर मेरे प्रणा को स्वीकार किया है । मेरे विमान के बीच में आ जाने से इनकी दृष्टि सूर्य अलग हो गई थी, वह पुनः इन्होंने सूर्य में लगा ली ।। ४४ ।।

अदः शरण्यं शरभङ्गनाम्नस्तपोवनं पावनमाहिताग्नेः ।
चिराय सन्तर्प्य समिद्भिरग्निं यो मन्त्रपूतां तनुमप्यहौषीत् ॥ ४५ ॥

अन्वयः—शरण्यं पावनम् अदः तपोवनम् अहिताग्नेः शरभङ्गनाम्नः चिराय अग्निं समिद्भिः सन्तर्प्य मन्त्रपूतां तनुम् अपि अहौषीत् ।

सञ्जी०—शरणे रक्षणे साधुः शरण्यः । पावयतीति पावनम् अदो दृश्यमा तपोवनमाहिताग्नेः शरभङ्गनाम्नो मुनेः सम्बन्धि । यः शरभङ्गश्चिराय चि मग्निं समिद्भिः सन्तर्प्य तर्पयित्वा ततो मन्त्रैः पूतां शुद्धां तनुमप्यहौषीद्धुतवान् जुहोतेर्लुङ् ।

व्याख्या—हे प्रिये ! शरण्यं=रक्षणसमर्थम् । पावनं=पवित्रकारि । अदः एतत् दूरतो दृश्यमानम् । तपोवनं=तपःस्थलम्, धर्मारण्यम् । अहिताग्नेः=अग्नि होत्रिणः । शरभङ्गनाम्नः=शरभङ्गनामकस्य मुनेः अस्ति । यः=शरभङ्गो मुनिः चिराय=बहुकालपर्यन्तम् । अग्निम्=वह्निम् । समिद्भिः=इन्धनैः हवनीयद्रव्यै

चरुघृतादिभिः । सन्तर्प्य=तर्पयित्वा । मन्त्रपूतां=मंत्रशुद्धाम् । तनुमपि=शरीरमपि । अहौषीत्=जुहाव, हुतवान् । दण्डकारण्ये पुना रामागमनं प्रतीक्षमाणः शरभङ्गमुनिः प्राणान् धारयन् तपस्यति स्म, परं समागते रामे तस्य दर्शनं कृत्वा तत्क्षणमेव योगाग्नौ स्वं शरीरं भस्मसात् कृतवानिति रामायणीया कथाऽत्रानुसन्धेया ।

समासः—शरणे साधु शरण्यम् । पावयतीति पावनम् । तपसो वनं तपोवनम् । आहिता अग्नयो येन स आहिताग्निः तस्य आहिताग्नेः । शरभङ्ग इति नाम यस्य स शरभङ्गनामा तस्य शरभङ्गनाम्नः । मन्त्रैः पूता मन्त्रपूता तां मन्त्रपूताम् ।

भावार्थः—प्रिये ! शरभङ्गनामकस्य अग्निहोत्रिणो मुने इदं शरणागतरक्षकं पवित्रतमं तपोवनं विद्यते । यो बहुकालं यावत् चरुघृतादिभिर्हवनीयद्रव्यैः काष्ठैश्चाग्निं तर्पयित्वा मन्त्रजपैः पवित्रमात्मनः शरीरमपि तत्र हुतवानिति भावः ।

भाषार्थ—यह सामने शरणागतों की रक्षा करनेवाले अग्निहोत्री शरभङ्ग ऋषि का तपोवन है, जिन्होंने बहुत दिनों तक अग्नि को समिधा से तृप्त करके अन्त में मन्त्रों से पवित्र अपने शरीर को भी उसमें हवन कर दिया था ॥४५॥

छायाविनीताध्वपरिश्रमेषु भूयिष्ठसम्भाव्यफलेष्वमीषु ।
तस्यातिथीनामधुना सपर्या स्थिता सुपुत्रेष्विव पादपेषु ॥ ४६ ॥

अन्वयः—अधुना तस्य अतिथीनां सपर्या छायाविनीताध्वपरिश्रमेषु भूयिष्ठसम्भाव्यफलेषु अमीषु पादपेषु सुपुत्रेषु इव स्थिता ।

सञ्जी०—अधुनाऽस्मिन्काले तस्य शरभङ्गस्य सम्बन्धिन्यतिथीनां सपर्याऽतिथिपूजा । 'पूजा नमस्यापचितिः सपर्यार्चार्हणाः समाः' इत्यमरः । छायाभिर्विनीतोऽपनीतोऽध्वपरिश्रमो यैस्तेषु भूयिष्ठानि बहुतमानि सम्भव्यानि श्लाघ्यानि फलानि येषां तेष्वमीषु पादपेष्वाश्रमवृक्षेषु सुपुत्रेष्विव स्थिता तत्पुत्रैरिव पादपैरनुष्ठीयत इत्यर्थः ।

व्याख्या—हे प्रिये ! अधुना=साम्प्रतम् । तस्य=शरभङ्गमुनेः । अतिथीनां=आगन्तुकानाम् । सपर्या=पूजा, अतिथिपूजा । छायाविनीताध्वपरिश्रमेषु=छायापनीतमार्गायासेषु । भूयिष्ठसम्भाव्यफलेषु=बहुतमश्लाघ्यफलेषु । अमीषु=एतेषु । पादपेषु=तपोवनतरुषु वृक्षेषु । सुपुत्रेष्विव=आज्ञाकारिषु, उत्तमात्मजेष्विव । स्थिता=विद्यमाना अस्तीति शेषः ।

समासः—अध्वनः परिश्रमः अध्वपरिश्रमः छायायां विनीतः अध्वपरिश्रमो यैस्ते छायाविनीताध्वपरिश्रमाः तेषु छायाविनीताध्वपरिश्रमेषु । भूयिष्ठानि सम्भा-

व्यानि फलानि येषु ते भूयिष्ठसम्भाव्यफला: तेषु भूयिष्ठसम्भाव्यफलेषु । पादैः पिबन्तीति पादपा: तेषु पादपेषु ।

भावार्थः— यथा म्रियमाणः पुण्यात्मा मनुष्यः स्वीयेषु सत्पुत्रेषु अतिथिसत्कारादिभारं प्रदाय स्वर्गं गच्छति,तथैव दिव्यलोकं जिगमिषुः शरभङ्गमुनिः स्वाश्रमःवृक्षेषु अतिथिसत्कारं प्रदत्तवान् । तदनुसारमेते तदाश्रमतरवः छायया मार्गश्रमस्यापनयद्वारा स्वादुफलैश्च सन्तर्पणद्वारा अभ्यागतानतिथीन् सततं सत्कुर्वन्ति; यतो हि शास्त्रानुसारं पञ्चमहायज्ञेषु अतिथिसत्कारोऽप्येको यज्ञः स्वीकृतोऽस्ति । तथा हि भगवान् मनुः—

'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवः बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥'—३।७० ।

भाषार्थ—जिस प्रकार सुपुत्र अपने पिता के धर्म का पालन करते हैं उसी प्रकार अतिथिसेवा का कार्य शरभंग ऋषि के बदले ये आश्रम के वृक्ष करते हैं, जिनकी सघन छाया में बैठकर पथिक अपनी थकावट दूर करते हैं और जिनमें बड़े मीठे-मीठे फल भी लगते हैं—अर्थात् अतिथियों के आने पर शरभंग मुनि के पुत्रों के समान ये वृक्ष छाया एवं मधुर फलों से अतिथियों का सत्कार करते हैं ॥ ४६ ॥

धारास्वनोद्गारिदरीमुखोऽसौ शृङ्गाग्रलग्नाम्बुदवप्रपङ्कः ।
बध्नाति मे बन्धुरगात्रि ! चक्षुर्दृप्तः ककुद्मानिव चित्रकूटः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—धारास्वनोद्गारिदरीमुखः शृङ्गाग्रलग्नाम्बुदवप्रपङ्कः असौ चित्रकूटः हे बन्धुरगात्रि ! दृप्तः ककुद्मान् इव मे चक्षुः बध्नाति ।

सञ्जी०—धारा निर्झरधाराः यद्वा धारया सातत्येन स्वनोद्गारिदर्येव मुखं यस्य सः । शृङ्गं शिखरं विषाणं च तस्याग्रे लग्नोऽम्बुद एव वप्रपङ्को वप्रक्रीडासक्तपङ्को यस्य सः । असौ चित्रकूटो हे बन्धुरगात्रि ! उन्नतानताङ्गि ! 'बन्धुरं तून्नतानतम्' इत्यमरः । दृप्तः ककुद्मान्वृषभ इव मे चक्षुर्बध्नात्यनन्यासक्तं करोति ।

व्याख्या—धारास्वनोद्गारिदरीमुखः=निर्झरधाराशब्दोद्गारिकन्दराननः । शृङ्गाग्रलग्नाम्बुदवप्रपङ्कः=शिखराग्रसम्बद्धमेघवप्रक्रीडासक्तपङ्कः । असौ=अयं चित्रकूटः=चित्रकूटपर्वतः । हे बन्धुरगात्रि !=उचितोन्नतावनतशरीरे सीते ! दृप्तः=दर्पयुक्तः । ककुद्मान् इव=वृषभ इव । मे=मम । चक्षुः=नेत्रम् । बध्नाति=अनन्यासक्तं करोति, आकर्षति ।

समासः—धाराणां स्वनमुद्गिरतीति धारास्वनोद्गारि। दरी एव मुखं दरीमुखं धारास्वनोद्गारि दरीमुखं यस्य स धारास्वनोद्गारिमुखः। शृङ्गस्य शृङ्गयोर्वा अग्रमिति शृङ्गाग्रं शृङ्गाग्रे लग्नः शृङ्गाग्रलग्नः। वप्रस्य पङ्कः वप्रपङ्कः, अम्बु ददातीति अम्बुद एव वप्रपङ्कः अम्बुदवप्रपङ्कः शृङ्गाग्रलग्नः अम्बुदवप्रपङ्कः यस्य स शृङ्गाग्रलग्नाम्बुदवप्रपङ्कः। बन्धुरं गात्रं यस्या सा बन्धुरगात्री तत्सम्बुद्धौ हे बन्धुरगात्रि!। ककुद् अस्यास्तीति ककुद्मान्। चित्राणि कूटानि यस्य स चित्रकूटः।

भावार्थः—अयि प्रिये! समुद्धतबलीवर्द इव एष चित्रकूटगिरिः भृशं मे दृष्टिं स्वस्मिन्नाकर्षति। यत्र कन्दरं निर्झरधाराशब्देन निरन्तरं प्रतिध्वनितमस्ति, एतस्योच्चशिखरोपरिभागे वप्रपङ्क इव मेघः संलग्नो दृश्यते। अहो अस्य गिरेः रमणीयतेति भावः।

भाषार्थ—हे सुन्दर शरीरवाली सीते! यह चित्रकूट पर्वत मस्त साँड़ के समान मुझे बड़ा ही सुहावना लग रहा है, मानो इसकी गुफा ही इसका मुख है, इससे निकलनेवाली जल की धारा का शब्द ही इसका डकार है, इसके शिखर ही इसके सींग हैं और उसपर छाये हुए बादल ही मानो उसमें लगा हुआ कीचड़ है ॥ ४७ ॥

एषा प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा सरिद्विदूरान्तरभावतन्वी।
मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे मुक्तावली कण्ठगतेव भूमेः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा विदूरान्तरभावतन्वी मन्दाकिनी एषा सीता सरित् नगोपकण्ठे भूमेः कण्ठगता मुक्तावली इव भाति।

सञ्जी०—प्रसन्नो निर्मलः स्तिमितो निःस्पन्दः प्रवाहो यस्याः सा विदूरस्यान्तरस्य मध्यवर्त्यवकाशस्य भावात्तन्वी दूरदेशवर्तित्वात्तनुत्वेनावभासमाना मन्दाकिनी नाम काचिच्चित्रकूटनिकटगैषा सरिन्नगोपकण्ठे भूमेः कण्ठगता मुक्तावलीव भाति। अत्र नगस्य शिरस्त्वं तदुपकण्ठस्य कण्ठत्वं च गम्यते।

व्याख्या—प्रिये प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा=निर्मलनिःस्पन्दप्रवाहा। विदूरान्तरभावतन्वी=विप्रकृष्टावकाशभावसूचिका दूरस्थत्वात् कृशा दृश्यमाना। एषा=इयम्। मन्दाकिनी=मन्दाकिनी नामधेया। सरित्=नदी। नगोपकण्ठे=चित्रकूटपर्वतसमीपे। भूमेः=पृथिव्याः। कण्ठगता=गलेलग्ना। मुक्तावलीव=मौक्तिकमाला इव भाति=शोभते। अत्र चित्रकूटपर्वतस्य शिरस्त्वं तदुपकण्ठस्य च कण्ठत्वं प्रतीयते।

समासः—प्रसन्नः स्तिमितः प्रवाहो यस्याः सा प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा। विदूरं च तत् अन्तरं विदूरान्तरम् विदूरान्तरस्य भावः विदूरान्तरभावः विदूरान्तरभावात् तन्वी विदूरान्तरभावतन्वी। नगस्योपकण्ठम् तस्मिन् नगोपकण्ठे। मुक्तानामवली मुक्तावली। कण्ठं गता कण्ठगता।

भावार्थः—चित्रकूटगिरेरधो निर्मला निश्चलप्रवाहा च दूरत्वात् कृशा दृश्यमाना एषा मन्दाकिनी नाम नदी चित्रकूटोपकण्ठे भूमेः कण्ठस्थिता लम्बमाना मुक्तामालेव शोभते इति भावः।

भाषार्थ—यह लो, मन्दाकिनी नदी आ गई। इसका जल कैसा स्वच्छ और धीरे-धीरे वह रहा है दूर होने के कारण यह इतनी पतली दिखाई दे रही है मानो पृथ्वी रूपी नायिका के गले में मोतियों की माला पड़ी हुई हो ॥४८॥

अयं सुजातोऽनुगिरं तमालः प्रवालमादाय सुगन्धि यस्य।
यवाङ्कुरापाण्डुकपोलशोभी मयावतंसः परिकल्पितस्ते ॥ ४९ ॥

अन्वय—अनुगिरं सुजातः (स) तमालोऽयं (दृश्यते) यस्य सुगन्धि प्रवालं आदाय मया ते यवाङ्कुरापाण्डुकपोलशोभी अवतंसः परिकल्पितः।

सञ्जी०—गिरेः समीपेऽनुगिरम्। 'गिरेश्च सेनकस्य' इति समासान्तष्टच्प्रत्ययः। सुजातः स तमालोऽयं दृश्यते यस्य तमालस्य शोभनो गन्धो यस्य तत्सुगन्धि। 'गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः' इत्यनेनेकारः समासान्तः। प्रवालं पल्लवमादाय मया ते यवाङ्कुरवदापाण्डौ कपोले शोभी शोभते यः सोऽवतंसः कर्णालङ्कारः परिकल्पितः।

व्याख्या—अनुगिरं=चित्रकूटपर्वतसमीपे। सुजातः=सुन्दरः। अयं=एष निकटवर्ती। तमालः=तमालपिच्छो दृश्यते। यस्य=तमालस्य। सुगन्धि=शोभनसौरभयुक्तम्। प्रवालं=पल्लवम्। आदाय=गृहीत्वा। मया=रामेण। ते=तव। यवाङ्कुरापाण्डुकपोलशोभी=दीर्घशूकाङ्कुरपाण्वाग्रशोभी अवतंसः=कर्णालङ्कारः। परिकल्पितः=रचितः। आसीदिति शेषः।

समास—गिरेः समीपमनुगिरम्। सुशोभनं जातं जन्म यस्य स सुजातः। शोभनो गन्धो यस्य तत् सुगन्धि तत् सुगन्धि। यवस्याङ्कुरो यवाङ्कुरः यवाङ्कुरवत् अपाण्डु यवाङ्कुरपाण्डु यवाङ्कुरपाण्डू च तौ कपोलौ च यवाङ्कुरपाण्डुकपोलौ तयो यवाङ्कुरपाण्डुकपोलयोः। यवाङ्कुरपाण्डुकपोलयोः शोभी इति यवाङ्कुरपाण्डुकपोलशोभी।

भावार्थः—प्रिये! चित्रकूटपर्वतोपत्यकायां वर्तमानोऽयं सुन्दरः तमालत

रस्ति, यस्य सौरभसनाथं पल्लवमवचित्य मया तव श्वेतकपोलयोः कर्णाभरणत्वेन परिकल्पितमिति भावः ।

भाषार्थ—इस पर्वत के पास ही जो तमाल का वृक्ष दिखाई दे रहा है, यह वही है जिसके पल्लवों का कर्णफूल बनाकर मैंने तुम्हारे कानों में पहनाया था और जो तुम्हारे गालों पर लटकता हुआ यव के अंकुर के समान पीला बड़ा सुन्दर लगता था ।। ४९ ।।

अनिग्रहत्रासविनीतसत्त्वमपुष्पलिङ्गात्फलबन्धिवृक्षम् ।
वनं तपःसाधनमेतदत्रेराविष्कृतोदग्रतरप्रभावम् ।। ५० ।।

अन्वयः—अनिग्रहत्रासविनीतसत्त्वं अपुष्पलिङ्गात् फलबन्धिवृक्षम् आविष्कृतोदग्रतरप्रभावम् अत्रेः तपःसाधनं वनम् एतत् (अस्ति) ।

सञ्जी—अविग्रहत्रासा दण्डभयरहिता अपि विनीताः सत्त्वा जन्तवो यस्मिस्तत् । अपुष्पलिङ्गात्पुष्पनिमित्तं विनैव फलबन्धिनः फलग्राहिणो वृक्षा यस्मिस्तत् । अत एवाविष्कृतोदग्रतरप्रभावमत्रेर्मुनेस्तपसः साधनं वनमेतत् ।

व्याख्या—अनिग्रहत्रासविनीतसत्त्वं = शासनभीतशून्यप्रश्रितजन्तुयुक्तम् । अपुष्पलिङ्गात्=कुसुमोद्गमं विनापि । फलबन्धिवृक्षं=सफलवृक्षसहितम् । अत एव आविष्कृतोदग्रतरप्रभावं=प्रकाशितोन्नततरसामर्थ्यम् । अत्रेः=अत्रिनामकस्यानुसूयापतेः । मुनेः=ऋषेः । तपसः=तपश्चरणस्य । साधनं=कारणम् । एतद्= इदम् । वनम्=अरण्यम् । अस्तीति शेषः ।

समासः—न निग्रहात् त्रास येषां ते अनिग्रहत्रासाः अनिग्रहत्रासाश्च ये विनीताश्चेति अनिग्रहत्रासविनीताः अनिग्रहत्रासविनीता सत्वाः यस्मिन्निति अनिग्रहत्रासविनीतसत्त्वं तत् अनिग्रहत्रासविनीतसत्त्वम् । पुष्पाणां लिङ्गं पुष्पलिङ्गम् तस्मात् पुष्पलिङ्गात् । फलानि बन्धन्तीति फलबन्धिनः फलबन्धिनो वृक्षा यस्मिन् तत् फलबन्धिवृक्षम् । तपसः साधन तपःसाधनम् । अतिशयेन उदग्र उदग्रतरः आविष्कृत उदग्रतरः प्रभावो येन तत् आविष्कृतोद्रतरप्रभावम् ।

भावार्थः—प्रिये ! इदमत्रिमुनेः तपसः साधनवनमस्ति यत्र दण्डभयं विनापि जन्तवः विनम्राः सन्ति, पुष्पोद्गमं विनापि फलवन्तो वृक्षा वर्तन्ते । एतद्वनं हि महर्षेरुत्कृष्टं तपः प्रभावं प्रकटयतीति त्वं जानीहीति भावः ।

भाषार्थ—यह आगे अत्रि मुनि का तपोवन है, जहाँ के सिंह आदि पशु बिना मारे-पीटे ही सीधे हो गये हैं । वे किसी से कुछ बोलते नहीं । यह तपोवन इतना प्रभावशाली है कि यहाँ बिना फूल आये ही वृक्षों में फल लग जाते हैं ।५०।

अत्राभिषेकाय तपोधनानां सप्तर्षिहस्तोद्धृतहेमपद्माम् ।
प्रवर्तयामास किलानुसूया त्रिस्रोतसं त्र्यम्बकमौलिमालाम् ॥ ५१ ॥

अन्वयः—अत्र अनुसूया सप्तर्षिहस्तोद्धृतहेमपद्मां त्र्यम्बकमौलिमालां त्रिस्रोतसं तपोधनानां अभिषेकाय प्रवर्तयामास किल ।

सञ्जी०—अत्र वनेऽनुसूयाऽत्रिपत्नी । सप्त च ते ऋषयश्च सप्तर्षयः । 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' इति तत्पुरुषसमासः । तेषां हस्तैरुद्धृतानि हेमपद्मानि यस्यास्तां त्र्यम्बकमौलिमालाम् हरशिरःस्रजं त्रिस्रोतसं भागीरथीं तपोधनानामृषीणामभिषेकाय स्नानाय प्रवर्तयामास प्रवाहयामास । किलेत्यैतिह्ये ।

व्याख्या—अयि प्रिये ! अत्र=अस्मिन् तपोवने । अनुसूया=अत्रिमुनेः धर्मपत्नी । सप्तर्षिहस्तोद्धृतहेमपद्मां=सप्तर्षिकरनिष्कासितसुवर्णकमलाम् । त्र्यम्बकमौलिमालाम्=शिवशिरःस्रजम् । त्रिस्रोतसं=गङ्गां । तपोधनानां=तपस्विनाम् । अभिषेकाय=स्नानाय । प्रवर्तयामास=प्रवाहयामास । किल=खलु ।

समासः—सप्त च ते ऋषयः सप्तर्षयः सप्तर्षीणां हस्ताः सप्तर्षिहस्ताः हेम्नः पद्मानि हेमपद्मानि सप्तर्षिहस्तैः उद्धृतानि हेमपद्मानि यस्या सा सप्तर्षिहस्तोद्धृतहेमपद्मा तां सप्तर्षिहस्तोद्धृतहेमपद्माम् । त्रीणि (स्वर्ग-मर्त्य-पातालगतानि) स्रोतांसि यस्या सा त्रिस्रोताः तां त्रिस्रोतसम् । त्रीणि अम्बकानि (नेत्राणि) यस्य सः त्र्यम्बकः त्र्यम्बकस्य मौलिः त्र्यम्बकमौलिः त्र्यम्बकमौलेः माला त्र्यम्लकमौलिमाला ।

भावार्थः—प्रिये ! अस्मिन् तपोवने सतीशिरोमणि अत्रिपत्नी अनुसूया निजपातिव्रत्यस्य महिम्ना महर्षीणामभिषेकाय स्वर्ग-मर्त्यलोक-पाताललोकेषु वहनशीलां भगवतीं भागीरथीं प्रवाहयामास । यस्याः स्वर्णमयानि कमलानि दिवि सप्तर्षयः परमात्मनः समर्पणाय विचिन्वन्ती । या च भगवती गङ्गा भगवतः शिवस्य शिरसि मालेव विभ्राजते । सप्तर्षीणां परिचयप्रसङ्गे प्रोक्तमस्ति यत्—

'कश्यपोऽत्रिर्भरद्वाजो विश्वामित्रोऽथ गौतमः ।
जमदग्निर्वसिष्ठश्च सप्तैते ऋषयः स्मृताः ॥

भाषार्थ—अत्रि की धर्मपत्नी अनसूयाजी ने ऋषियों को स्नान करनेके लिए उस त्रिपथगा गङ्गाजीको यहाँ लायी हैं, जिसमें सप्तर्षिगण अपने हाथों से सुवर्ण कमल तोड़ा करते हैं और जो शिवजी के शिर पर माला के समान लगती हैं ॥ ५१ ॥

वीरासनैर्ध्यानजुषामृषीणाममी समध्यासितवेदिमध्याः।
निवातनिष्कम्पतया विभान्ति योगाधिरूढा इव शाखिनोऽपि ॥ ५२ ॥

अन्वयः—वीरासनैः ध्यानजुषां ऋषीणां समध्यासितवेदिमध्याः अमी शाखिनः अपि निवातनिष्कम्पतया योगाधिरूढा इव विभान्ति।

सञ्जी०—वीरासनैर्जयसाधनैः ध्यानं जुषन्ते सेवन्त इति ध्यानजुषः। समाधिसेविन इत्यर्थः। तेषां तैरुपविश्य ध्यायतामृषीणां सम्बन्धिनः समध्यासितवेदिमध्याः। इदं वीरासनस्थानीयम्। अमी शाखिनोऽपि निवाते निष्कम्पतया योगाधिरूढा इव ध्यानभाज इव विभान्ति। ध्यायन्तोऽपि निश्चलाङ्गा भवति। वीरासने वसिष्ठः—

'एकपादमथैकस्मिन् विन्यस्योरुणि संस्थितम्।
इतरस्मिंस्तथा चान्यं वीरासनमुदाहृतम् ॥' इति।

व्याख्या—प्रिये! वीरासनैः=आसनविशेषैः। ध्यानजुषां=ध्यानवताम्। ऋषीणां=मुनीनाम्। समध्यासितवेदिमध्याः=समधिरूढवेदिमध्यभागाः। अमी=एते। शाखिनोऽपि=विटपिनो वृक्षा अपि। निवातनिष्कम्पतया=पवनशून्यस्थानेऽचञ्चलतया। योगाधिरूढा इव=योगाभ्यासरता इव विभान्ति=शोभन्ते।

समासः—वीराणि च तानि आसनानि वीरासनानि तैः वीरासनैः। ध्यानं जुषन्ते इति ध्यानजुषः तेषां ध्यानजुषाम्। वेदीनाम् मध्यानि वेदिमध्यानि समध्यासितानि वेदिमध्यानि यैस्ते समध्यासितवेदिमध्याः। शाखा आसां सन्तीति शाखिनः। कम्पात् निष्क्रान्ता इति निष्कम्पा निवाते निष्कम्पाः निवातनिष्कम्पा निवातनिष्कम्पाणां भावः निवातनिष्कम्पता तया निवातनिष्कम्पतया। योगेऽधिरूढा योगाधिरूढाः।

भावार्थः—प्रिये! वीरासनेन ध्यानं कुर्वतां निश्चलाङ्गानां मुनीनां आश्रमवेदिमध्यवर्तिनोऽमी वृक्षा अपि वातोपद्रवराहित्येन निश्चलतया योगाभ्यासिन इव लक्ष्यन्ते। अर्थात् तपस्विनामेतेषां संसर्गात् एषु तरुष्वपि तपस्विगुणाः समायाताः। वीरासनलक्षणं तु—

'एकपादमथैकस्मिन् विन्यस्योरुणि संस्थितम्।
इतरस्मिंस्तथा चान्यं वीरासनमुदाहृतम् ॥'

गरुडपुराणे तु—

'उत्थितस्तु दिवा तिष्ठेद् उपविष्टस्तथा निशि।
एतद् वीरासनं प्रोक्तं महापातकनाशनम् ॥'

भाषार्थं—इस आश्रम के वृक्षों के नीचे वेदियों पर तपस्वी लोग वीरासन लगा-लगाकर ध्यान करते हैं और यहाँ के वृक्ष भी वायु न चलने के कारण ऐसे स्थिर खड़े रहते हैं, मानों वे भी योग साधन कर रहे हों ॥ ५२ ॥

त्वया पुरस्तादुपयाचितो यः सोऽयं वटः श्याम इति प्रतीतः ।
राशिर्मणीनामिव गारुडानां सपद्मरागः फलितो विभाति ॥ ५३ ॥

अन्वयः—त्वया पुरस्तात् उपयाचितः यः श्याम इति प्रतीतः सः अयं वटः फलितः (सन्) सपद्मरागः गारुडानां मणीनां राशिः इव विभाति ।

सञ्जी०—त्वया पुरस्तात्पूर्वं य उपयाचितः प्रार्थितः । तथा च रामायणे—'न्यग्रोधं तमुपस्थाय वैदेही वाक्यमब्रवीत् । नमस्तेऽस्तु महावृक्ष ! पालयेन्मे व्रतं पतिः ॥' इति । श्याम इति प्रतीतः स वटोऽयं फलितः सन् । सपद्मरागो गारुडानां मणीनां मरकतानां राशिरिव विभाति ।

व्याख्या—हे प्रिये ! त्वया=भवत्या । पुरस्तात्=प्राक् । यः=वटः । उपयाचितः=प्रार्थितः । श्याम इति=श्यामनामकः । प्रतीतः=प्रख्यातः । सोऽयं वटः=पुरोवर्ती न्यग्रोधः । फलितः=सञ्जातफलः सन् । सपद्मरागः पद्मरागसहितः । गारुडानां=मरकतानाम् । मणीनां=रत्नानाम् । राशिरिव=पुञ्ज-समूह इव । विभाति=शोभते ।

समासः—पद्मरागैः सह वर्तते इति सपद्मरागः ।

भावार्थः—प्रिये ! पूर्वं मया साकम् एत्य यं वटं वृक्षं त्वं प्रार्थितवती, श्याम-वटनाम्ना प्रसिद्धः सोऽयं साम्प्रतं फलितः पत्रेषु हरिद्वर्णःफलेषु च रक्तवर्णः पद्मरागमणिभिः युक्तः मरकतमणिरिव शोभते । सीताया वरेण प्रार्थनमेवं वर्णितं वाल्मीकीये रामायणे—

'न्यग्रोधं तमुपस्थाय वैदेही वाक्यमब्रवीत् ।
नमस्तेऽस्तु महावृक्ष ! पालयेन्मे वृतं पतिः ॥'

भाषार्थ—यह काला-काला वही वट का वृक्ष है जिसकी तुमने मनौती मानी थी । इसमें लाल जो फल लगे हैं उनसे यह वृक्ष ऐसा मालूम पड़ता है जैसे नीलमके ढेर में वहुत से लाल भरे हों ॥ ५३ ॥

'क्वचित्—' इत्यादिभिश्चतुर्भिः श्लोकैः प्रयागे गङ्गायमुनासङ्गमं वर्णयति—

क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा ।
अन्यत्र माला सितपङ्कजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव ॥ ५४ ॥

क्वचित्खगानां प्रियमानसानां कादम्बसंसर्गवतीव पङ्क्तिः ।
अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव ॥ ५५ ॥
क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शबलीकृतेव ।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभःप्रदेशा ॥ ५६ ॥
क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य ।
पश्यानवद्याङ्गि ! विभाति गङ्गा भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गैः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—क्वचित्प्रभालेपिभिः इन्द्रनीलैः अनुविद्धा मुक्तामयी यष्टिः इव इन्दीवरैः उत्खचितान्तरा सितपङ्कजानां माला इव यमुनातरङ्गैः भिन्नप्रवाहा गङ्गा विभाति । क्वचित् कादम्बसंसर्गवती प्रियमानसानां खगानां पक्तिः इव अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भुवः चन्दनकल्पिता भक्तिः इव (विभाति) । क्वचित् छायाविलीनैः तमोभिः शबलीकृता चान्द्रमसी प्रभा इव अन्यत्र रन्ध्रेषु आलक्ष्य-नभःप्रदेशा शुभ्रा शरदभ्रलेखा इव (विभाति) । हे अनवद्याङ्गि ! पश्य क्वचिच्चकृष्णोरगभूषणभस्माङ्गरागा ईश्वरस्य तनुः इव यमुनातरङ्गैः भिन्न-प्रवाहा गङ्गा विभाति ।

सञ्जी०—हे अनवद्याङ्गि ! यमुनातरङ्गैर्भिन्नप्रवाहा व्यामिश्रौघा गङ्गा जाह्नवी विभाति त्वं पश्य । केव क्वचित्प्रदेशे प्रभया लिम्पन्ति सन्निहितमिति प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैरनुविद्धा सह गुम्फिता मुक्तामयी यष्टिरिव हारावलिरिव विभाति । अन्यत्र प्रदेशे इन्दीवरैर्नीलोत्पलैरुत्खचितान्तरा सह ग्रथिता सितपङ्क-जानां पुण्डरीकाणां मालेव विभातीति सर्वत्र सम्बन्धः । क्वचित्कादम्बसंसर्गवती नीलहंससंसृष्टा प्रियं मानसं नाम सरो येषां तेषां खगानां राजहंसानां पंक्तिरिव । 'राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिताः' इत्यमरः । अन्यत्र कालागुरुणा दत्तपत्रा रचितमकरिकापत्रा भुवश्चन्दनकल्पिता भक्तिरिव क्वचिच्छायासु विलीनैः स्थितैस्त-मोभिः शबलीकृता कर्बुरीकृता चान्द्रमसी प्रभा चन्द्रिकेव । अन्यत्र रन्ध्रेष्वालक्ष्य-नभःप्रदेशा शुभ्रा शरदभ्रलेखा शरन्मेघपङ्क्तिरिव क्वचित्कृष्णोरगभूषणा भस्माङ्ग-रागेश्वरस्य तनुरिव विभाति । शेषो व्याख्यातः । कलाकपम् ।

व्याख्या—हे अनवद्याङ्गि !=हे अनिन्दितावयवे ! सर्वाङ्गसुन्दरि सीते ! क्वचित्=कुत्रचित् । प्रभालेपिभिः=कान्तिप्रसारिभिः कान्तिलेपिभिः । इन्द्र-नीलैः=हरिद्वर्णमणिभिः मरकतैः । अनुविद्धा=सहविद्धा समं प्रोता । मुक्तामयी =मौक्तिकमयी यष्टिरिव=पंक्तिरिव हारावलिरिव । अन्यत्र=अन्यस्मिन् प्रदेशे । इन्दीवरैः=नीलकमलैः । उत्खचितान्तरा = प्रोतमध्या । सितपङ्कजानां=

श्वेतकमलानाम् । मालेव=स्रगिव । क्वचित्=कस्मिंश्चिद्भागे । कादम्बसंसर्गवती=असिताङ्गहंससम्मिश्रा । प्रियमानसानां=दयितमानसरसाम् । खगानां=हंसपक्षिणाम् । श्वेताङ्गानाम् । पंक्तिरिव=श्रेणिरिव । अन्यत्र = अन्यस्मिन् प्रदेशे । कालागुरुदत्तपत्रा=कृष्णागुरुरचितमकरिकापत्रा । भुवः=पृथिव्याः । चन्दनकल्पिता=श्रीखण्डलेपनिर्मिता । भक्तिरिव=रेखेव । क्वचित्=कुत्रचित् । छायाविलीनैः = अनातपस्थितैः । तमोभिः =अन्धकारैः । शवलीकृता=चित्रीकृता । चान्द्रमसी=चान्द्री प्रभा इव=कान्तिरिव । अन्यत्र=अन्यस्मिन् स्थाने । रन्ध्रेषु = छिद्रेषु आलक्ष्यनभःप्रदेशा=ईषद्दृश्यव्योमप्रदेशा । शुभ्रा = शुक्ला । शरदभ्रलेखा इव=शरन्मेघपंक्तिरिव । क्वचित्=कुत्रचित् । कृष्णोरगभूषणा =कालसर्पालङ्कारा । भस्माङ्गरागा=भसिताङ्गलेपना । ईश्वरस्य=महेश्वरस्य तनुरिव=शरीरमिव । यमुनातरङ्गैः=कालिन्दिवीचिभिः । भिन्नप्रवाहा=सम्पृक्तनिर्झरा गंगा=भागीरथी । विभाति=विद्योतत इति । पश्य=अवलोकय ।

समासः- न अवद्यानि अनवद्यानि अनवद्यानि अंगानि यस्याः सा अनवद्याङ्गी तत्सम्बुद्धौ हे अनवद्याङ्गि ! यमुनायाः तरङ्गाः यमुनातरङ्गाः तैः यमुनातरङ्गैः । भिन्नाः प्रवाहा यस्याः सा भिन्नप्रवाहा । प्रभां लिम्पन्तीति प्रभालेपिनः तैः प्रभालेपिभिः । मुक्ता प्रचुरा यत्र सा मुक्तामयी । उत्खचितानि अन्तराणि यस्याः सा उत्खचितान्तरा । सितानि च तानि पङ्कजानि सितपङ्कजानि तेष सितपङ्कजानाम् । कादम्बानां संसर्गः अस्या अस्तीति कादम्वसंसर्गवती । प्रियं मानसं येषां ते प्रियमानसाः तेषां प्रियमानसानाम् । कालागुरुणा दत्तानि पत्राणि यस्याः सा कालागुरुदत्तपत्रा । चन्दनेन कल्पिता चन्दनकल्पिता । छायायां विलीनानि छायाविलीनानि तैः छायाविलीनैः । न शवला अशवला अशबला शबला सम्पद्यमाना शबलीकृता । चन्द्रमसः इयं चान्द्रमसी । नभसः प्रदेशः नभःप्रदेशाः आलक्ष्या नभःप्रदेशा यस्याः सा आलक्ष्यनभःप्रदेशा । शरद अभ्राणि शरदभ्राणि शरदभ्राणां लेखा शरदभ्रलेखा । कृष्णाश्च ते उरगा कृष्णोरगाः कृष्णोरगाः भूषणं यस्याः सा कृष्णोरगभषणा । भस्मनः अङ्गरागो यस्याः सा भस्माङ्गरागा ।

भावार्थः—'छन्दोवद्धपदं पद्यं तेनैकेन च मुक्तकम्

द्वाभ्यां तु युग्मकं सन्दानितकं त्रिभिरिष्यते ।

कलापकं चतुर्भिः स्यात्तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम् ॥'

इति छन्दःशास्त्रनियमानुसारम् एकान्वयिना श्लोकचतुष्टयेन कलापकेन कविना शुक्लकृष्णयोःगङ्गायमुनाप्रवाहयोः सङ्गमः सप्तभिः विभिन्नोपमाभिः वर्णितोऽस्ति ।

तद्यथा—क्वचित् सितासितगङ्गायमुनाप्रवाहः कान्तिप्रसारिभिः इन्द्रनीलमणिभिः सहोतप्रोतो मौक्तिकहार इव प्रतिभाति, कुत्रचित् प्रदेशे नीलकमलैः मध्ये मध्ये ग्रथिता शुक्लकृष्णमालेव शोभते, कस्मिश्चित् प्रदेशे नीलहंससम्मिश्रा श्वेतवर्ण-मरालश्रेणिभिरिव विभाति, कुत्रचन कालागुरुपत्ररचना सम्मिलिता पृथिव्याः श्वेतचन्दनचित्रणमिवावभासते, क्वचन छायासु तमः कर्बुरिताचन्द्रचन्द्रिकेव दृश्यते, कुत्रचित् छिद्रेषु ईषल्लक्ष्यव्योमप्रदेशा शुक्ला शरन्मेघमालेव विराजन्ते, कुत्रचिच्च कृष्णसर्पालङ्कारा भस्मसंलिप्ता शङ्करतनुरिव यमुनातरङ्गैः मिश्रित-प्रवाहा भगवती भागीरथी गङ्गा शोभते। तथा च कृष्णवर्णा यमुनाया असितः प्रवाहः श्वेतवर्णेन भागीरथीप्रवाहेण मिश्रितः विभिन्नेषु भागेषु विविधां शोभां सम्पादयतीति विलोकयेति भावः।

भावार्थ—हे सुन्दरी सीते! देखो, यमुनाजी की काली लहरों से मिली श्वेत लहरोंवाली गंगाजी कैसी सुन्दर लग रही हैं। कहीं तो ये चमकीली इन्द्र-नील मणियों से गुँथी हुई माला जैसी लगती है और कहीं-कहीं नीले और श्वेत कमलों से मिश्रित माला के समान शोभित हो रही हैं, कहीं श्यामवर्ण के हंसों की श्रेणी से मिले हुए श्वेत हंसों की श्रेणी के समान शोभा दे रही हैं, कहीं श्वेत चन्दन से लिप्त पृथ्वी पर बीच बीच में काले अगर से बनायी गयी रचना के समान सुशोभित हो रही हैं। कहीं-कहीं ये वृक्ष के नीचे की उस चाँदनी के समान लगती हैं, जिसके बीच-बीच में पत्तों की छाया पड़ी हो और कहीं पर शरद् ऋतु के उन बादलों के समान जान पड़ती हैं, जिनके बीच बीच में नीला आकाश झाँक रहा हो। कहीं भस्म लगाये हुए शिवजी के उस शरीर के समान दिखाई दे रही हैं जिसपर काले-काले सर्प लिपटे हों। इस प्रकार यमुना की लहरों से मिली गंगाजी सुन्दर लग रही हैं॥ ५४-५७॥

समुद्रपत्न्योर्जलसन्निपाते पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात्।
तत्त्वावबोधेन विनाऽपि भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीरबन्धः॥ ५८॥

अन्वयः—अत्र समुद्रपत्न्योः सन्निपाते अभिषेकात् पूतात्मनां तत्त्वावबोधेन विना अपि तनुत्यजां भूयः शरीरबन्धः नास्ति।

सञ्जी०—अथ समुद्रपत्न्योर्गङ्गायमुनयोर्जलसन्निपाते सङ्गमेऽभिषेकात्स्नानात् पूतात्मनां तनुत्यजां शुद्धात्मनां पुंसां तत्त्वावबोधेन तत्त्वज्ञानेन विनाऽपि प्रारब्धशरीरत्यागानन्तरं भूयः पुनः शरीरबन्धः शरीरयोगो नास्ति किल। अन्यत्र ज्ञानादेव मुक्तिः, अत्र तु स्नानादेव मुक्तिरित्यर्थः।

व्याख्या—प्रिये! अत्र=अस्मिन् स्थाने प्रयागे। समुद्रपत्न्योः=सागर-

भार्ययोः, गङ्गायमुनयोः । जलसन्निपाते=सङ्गमे । अभिषेकात्=स्नानात् हेतोः । पूतात्मनां=पवित्रान्तःकरणानाम् । जनानाम् । तत्त्वावबोधेन विना=तत्त्वज्ञानेन विनापि । तनुत्यजां=शरीरत्यागिनाम् । प्रारब्धकर्मसमाप्त्यनन्तरं भूयः=पुनः द्वितीयवारम् । शरीरबन्धः=देहग्रहणम् । न अस्ति=नो वर्तते, मोक्षलाभात् । किल=निश्चयेन । इतोऽन्यत्र ज्ञानादेवमुक्ति अत्र तु स्नानमात्रेणापि मुक्तिरवाप्यते इत्यर्थः ।

समासः—समुद्रस्य पत्न्यौ समुद्रपत्न्यौ तयोः समुद्रपत्न्योः । जलयोः सन्निपातः जलसन्निपातः तस्मिन् जलसन्निपाते । पूत आत्मा येषां ते पूतात्मानः तेषां पूतात्मनाम् । तनुं त्यजन्तीति तनुत्यजः तेषां तनुत्यजाम् । तत्त्वस्यावबोधः तत्त्वावबोधः तेन तत्त्वावबोधेन । शरीरस्य बन्धः इति शरीरबन्धः ।

भावार्थः—प्रयागे गङ्गायमुनयोः सङ्गमे स्नानात् पवित्रात्मनां जनानां तत्त्वज्ञानमन्तरापि प्रारब्धशरीरत्यागानन्तरं मोक्षो जायते, न पुनस्तेषां शरीरबन्धो भवतीति भावः ।

भाषार्थ—यहाँ गंगा-यमुना दोनों नदियों के संगम में जो स्नान कर पवित्र हो जाते हैं, वे तत्त्वज्ञानी न होने पर भी संसारबन्धनों से छूट जाते हैं, फिर शरीर धारण नहीं करते ॥५८॥

पुरं निषादाधिपतेरिदं तद्यस्मिन्मया मौलिमणिं विहाय ।
जटासु बद्धास्वरुदत्सुमन्त्रः कैकेयि ! कामाः फलितास्तवेति ॥ ५९ ॥

अन्वयः—निषादाधिपतेः तत् पुरम् इदं यस्मिन् मया मौलिमणिं विहाय जटासु बद्धासु सुमन्त्रः हे कैकेयि ! तव कामाः फलिता (इति) अरुदत् ।

सञ्जी०—निषादाधिपतेर्गुहस्य तत्पुरमिदम् । यस्मिन्पुरे मया मौलिमणिं विहाय जटासु बद्धासु रचितासु सतीसु सुमन्त्रः 'हे कैकेयि ! तव कामा मनोरथाः फलिताः सफला जाताः' इत्यरुदत् । 'रुदिर-अश्रुविमोचने' इति धातोर्लुङ् ।

व्याख्या—हे प्रिये ! निषादाधिपतेः=निषादराजस्य गुहस्य । तत् पुरः=नगरम् । इदं=निकटस्थम् अस्ति । यस्मिन्=पुरे । मया=रामेण । मौलिमणिं=मुकुटरत्नम् । विहाय=त्यक्त्वा । जटासु=सटासु । बद्धासु=रचितासु । सुमन्त्रः=वृद्धामात्यः तातस्य सचिवः । हे कैकेयि ! =केकयराजकुमारि ! ते=तव । कामाः=मनोरथाः । फलिताः=सफला अभवन् । इति=एवमुक्त्वा । अरुदत्=अश्रूणि व्यमुञ्चत् । तादृशं करुणोत्पादिकां घटनामवलोक्य द्रुतान्तःकरणः सुमन्त्रो भृशं चक्रन्देत्यर्थः ।

समासः—निषादानामधिपतिः निषादाधिपतिः तस्य निषादाधिपतेः । मौलेः मणिः मौलिमणिः तं मौलिमणिम् । केकयानां राजा कैकेयः कैकेयस्यापत्यं स्त्रीः कैकेयी तत्सम्बुद्धौ हे कैकेयि ! ।

भावार्थः—प्रिये ! निषादराजस्य गुहस्य इदं तदेव नगरमस्ति, यत्राहं यदा मुकुटरत्नं विहाय अंसान्तकेशान् जटारूपेण संश्लिष्टानकार्षम् तदा मे वनवासोचितां जटामवलोक्य पितृकल्पो वृद्धोऽमात्यः सुमन्त्रः—'अयि केकयराजपुत्रि! श्रीरामस्य वनवासरूपाः ते मनोरथाः सफलाः जाता' इत्यभिधाय मुक्तकण्ठं रुरोदेति भावः ।

भाषार्थ—यह आगे निषादराज गुह का शृङ्गवेरपुर नामक नगर है जहाँ मैंने अपना मुकुटमणि उतारकर जटा बाँधी थी और जिसे देखकर सुमन्त यह कहकर रोने लगे थे कि हे कैकेयी ! तेरी इच्छा सफल हो गयी ।। ५९ ।।

पयोधरैः पुण्यजनाङ्गनानां निर्विष्टहेमाम्बुजरेणु यस्याः ।
ब्राह्मं सरः कारणमाप्तवाचो बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति ।। ६० ।।

अन्वयः—पुण्यजनाङ्गनानां पयोधरैर्निर्विष्टहेमाम्बुजरेणु ब्राह्मं सरः यस्याः बुद्धेः अव्यक्तम् कारणम् आप्तवाचः उदाहरन्ति ।

सञ्जी०—पुण्यजनाङ्गनानां यक्षस्त्रीणां पयोधरैः स्तनैर्निर्विष्ट उपभुक्तो हेमाम्बुजरेणुर्यस्य तत् । तत्र ताः क्रीडन्तीति व्यज्यते । ब्रह्मण इदं ब्राह्मम् । 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः । ब्राह्मं सरो मानसाख्यं यस्याः सरय्वाः बुद्धेर्महत्तत्त्वस्याव्यक्तं प्रधानमिव कारणम् । आप्तस्य वाच आप्तवाचो वेदाः, यद्वा बहुव्रीहिणा मुनयः उदाहरन्ति प्रचक्षते ।

व्याख्या—प्रिये ! पुण्यजनाङ्गनानां = यक्षवनितानाम् । पयोधरैः=स्तनैः निर्विष्टहेमाम्बुजरेणु = उपभुक्तस्वर्णकमलपरागम् । ब्राह्मं = ब्रह्मसम्बन्धि । सरः= कासारम् । मानसरोवरम् । यस्याः=सरय्वाः । बुद्धेः=महत्तत्त्वस्य । अव्यक्तं= प्रधानं प्रकृतिमिव यथा । कारणं=हेतुम् । आप्तवाचः=वेदाः मुनयो वा । उदाहरन्ति=कथयन्ति ।

समासः—पुण्यजनानां अङ्गनाः पुण्यजनाऽङ्गनाः तासां पुण्यजनाङ्गनानाम् । धरन्तीति धराः पयसां धराः पयोधराः तैः पयोधरैः । हेम्नः अम्बुजानि हेमाम्बुजानि हेमाम्बुजानां रेणवः हेमाम्बुजरेणवः, निर्विष्टा हेमाम्बुजरेणवो यस्य तत् निर्विष्टहेमाम्बुजरेणु । ब्रह्मणः इदं ब्राह्मम् । आप्तानां वाचः आप्तवाचः, आप्तस्य वाचः आप्तवाचः अथवा आप्ता वाक् येषां ते आप्तवाचः ।

भावार्थः—यस्य काञ्चनकमलपरागः यक्षवनितानां स्तनेषु स्नान जलक्रीडादौ

संलग्ना भवन्ति तादृशं मानसरोवरं अयोध्यायां प्रवहन्त्या यस्याः सरयूनद्या बुद्धे प्रकृतिमिव कारणमिति वेदा मुनयो वा वदन्ति । अर्थात् मानसरोवरे यक्षसुन्दर्यः क्रीडन्ति, सुवर्णकमलानि च प्रादुर्भवन्तीति भावः ।

भावार्थ—ऋषि लोग कहते हैं कि जिस प्रकार अव्यक्त से बुद्धि उत्पन्न हुई है उसी प्रकार यह सरयू नदी भी उस मानसरोवर से निकली है, जिसमें स्वर्ण कमलों का पराग यक्षों की स्त्रियाँ अपने स्तनों में लगाती हैं ।। ६० ।।

जलानि या तीरनिखातयूपा वहत्ययोध्यामनु राजधानीम् ।
तुरङ्गमेधावभृथावतीर्णैरिक्ष्वाकुभिः पुण्यतरीकृतानि ।। ६१ ।।

अन्वयः—तीरनिखातयूपा या तुरङ्गमेधावभृथावतीर्णैः इक्ष्वाकुभिः पुण्यतरीकृतानि जलानि अयोध्यां राजधानीम् अनु वहति ।

सञ्जी०—यूपः संस्कृतः पशुबन्धनार्हो दारुविशेषः, तीरनिखातयूपा या सरयूस्तुरङ्गमेधा अश्वमेधास्तेष्ववभृथार्थमेवावतीर्णैरवरूढैरिक्ष्वाकुभिरिक्ष्वाकुगोत्रापत्यैर्नः पूर्वैः । तद्राजत्वादणो लुक् । पुण्यतरीकृतान्यतिशयेन पुण्यानि कृतानि जलान्ययोध्यां राजधानीं नगरीमनु समीपे तया लक्षितयेत्यर्थः । अनुशब्दस्य 'लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः' इत्यनेन कर्मप्रवचनीयत्वात्तद्योगे द्वितीया वहति प्रापयति ।

व्याख्या—तीरनिखातयूपाः=तटावदारितयज्ञीययूपाः । या=सरयूनदी तुरङ्गमेधावभृथावतीर्णैः=अश्वमेधदीक्षान्तस्नानावरूढैः । इक्ष्वाकुभिः=इक्ष्वाकुकुलोत्पन्नैः । नः=अस्माकम् । पूर्वैः=पूर्वजैः । पुण्यतरीकृतानि=पवित्रतरीकृतानि जलानि=अम्बूनि । अयोध्यां=तदाख्यां राजधानीम् । अनु=समीपे वहति =प्रयाति ।

समासः—तीरे निखाता यूपा यस्याः सा तीरनिखातयूपाः । तुरङ्गमेधानां तुरङ्गमेधेषु वा अवभृथः तुरङ्गमेधावभृथः तुरङ्गमेधाय अवतीर्णाः तुरङ्गमेधावतीर्णाः तैः तुरङ्गमेधावतीर्णैः । इक्ष्वाकोः गोत्रापत्यानि पुमांस ऐक्ष्वाकवः तैः इक्ष्वाकुभिः अतिशयेन पुण्यानि पुण्यतराणि न पुण्यानि अपुण्यानि अपुण्यानि पुण्यानि सम्पद्यमानानि कृतानि पुण्यतरीकृतानि तानि पुण्यतरीकृतानि । राजानो धीयन्ते अस्यामिति राजधानी ।

भावार्थः—इयं सरयूनदी, यत्तीरे यज्ञीयपशून् बद्धुं यज्ञस्तम्भान् निरवाप्य अवभृथस्नानेनास्मत्पूर्वजैरिक्ष्वाकुवंशीयैर्नृपतिभिः पवित्रीकृतं (पूततमं कृतं) जलमयोध्यापार्श्वे प्रवाहयति । अत इयं वन्दनीया नदीति भावः ।

भाषार्थ—यह नदी इक्ष्वाकुवंशी राजाओं की राजधानी अयोध्या से लगी बहती है उसके तट पर जहाँ-तहाँ यज्ञों के स्तम्भ गड़े हुए हैं। अश्वमेध यज्ञ के अन्त में सूर्यवंशी राजाओं के स्नान करने से इसका जल परम पवित्र हो गया है ॥ ६१ ॥

यां सैकतोत्सङ्गसुखोचितानां प्राज्यैः पयोभिः परिवर्धितानाम् ।
सामान्यधात्रीमिव मानसं मे सम्भावयत्युत्तरकोसलानाम् ॥ ६२ ॥

अन्वयः—यां मे मानसं सैकतोत्सङ्गसुखोचितानां प्राज्यैः पयोभिः परिवर्धितानां उत्तरकोसलानां सामान्यधात्रीम् इव सम्भावयति ।

सञ्जी०—यां सरयूं मे मानसं कर्तृ सैकतं पुलिनं तदेवोत्सङ्गः तत्र यत्सुखं तत्रोचितानां प्राज्यैः प्रभूतैः पयोभिरम्बुभिः क्षीरैश्च । 'पयः क्षीरं पयोऽम्बु च' इत्यमरः । परिवर्धितानां पुष्टानामुत्तरकोसलानामुत्तरकोसलेश्वराणां सामान्यधात्रीं साधारणमातरमिव सम्भावयति । 'धात्री जनन्यामलकी वसुमत्युपमातृषु' इति विश्वः ।

व्याख्या—यां=सरयूनदीम् । मे=मम । मानसं=चित्तं । सैकतोत्सङ्गसुखोचितानां=बालुकामयपुलिकाङ्कसुखाभ्यस्तानां । प्राज्यैः=प्रभूतैः । पयोभिः=जलैः दुग्धैश्च परिवर्द्धितानां=परियोषितानाम् पुष्टानां वा उत्तरकोसलानां=उत्तरकोशलेश्वराणाम् । सामान्यधात्रीमिव=साधारणजननीमिव । सम्भावयति=सत्करोति । पूज्यबुद्धया पश्यतीत्यर्थः ।

समासः—सिकताः सन्त्यस्मिन् इति सैकतं सैकतमेवोत्सङ्गः सैकतोत्सङ्गः सैकतोत्सङ्गे सुखं सैकतोत्सङ्गसुखं सैकतोत्सङ्गसुखस्य उचिताः सैकतोत्सङ्गसुखोचिताः तेषां सैकतोत्सङ्गसुखोचितानाम् । सामान्या चासौ धात्रीति सामान्यधात्री तां सामान्यधात्रीम् । कोसलानामीश्वराः कोसलेश्वरा उत्तराश्च ते कोसलेश्वरा उत्तरकोसलेश्वराः तेषाम् उत्तरकोसलेश्वराणाम् ।

भावार्थः—प्रिये ! मदीयं मानसं सरयूनदीं साकेताधिपतीनां मातृकल्पां धात्रीमिव विमृशति यतो यथा धात्री स्वोत्संगे शिशून् स्वापयति स्वक्षीरेण च परिपोषयति तथैवेयं सरयूनदी अपि निजपुलिनोत्सङ्गे अयोध्याधिपतिभ्यः सुखं ददाति तथा स्वजलैः तान् परिपोषयति चेति भावः ।

भाषार्थ—मैं इस नदी का बड़ा आदर करता हूँ, क्योंकि यह उत्तर कोसल के राजाओं की धाय के समान है। इसके बालू में खेल-खेलकर वे सब पलते हैं और इसी का मीठा जल पीकर पुष्ट होते हैं ॥ ६२ ॥

सेयं मदीया जननीव तेन मान्येन राज्ञा सरयूर्वियुक्ता ।
दूरे वसन्तं शिशिरानिलैर्मां तरङ्गहस्तैरुपगूहतीव ।। ६३ ।।

अन्वयः—मदीया जननी इव मान्येन तेन राज्ञा वियुक्ता सा इयं सरयूः दूरे वसन्तं मां शिशिरानिलैः तरङ्गैः उपगूहति इव ।

सञ्जी०—मदीया जननी कौसल्येव मान्येन पूज्येन तेन राज्ञा दशरथेन वियुक्ता सेयं सरयूर्दूरे वसन्तं प्रोष्यागच्छन्तमित्यर्थः । मां पुत्रभूतं शिशिरानिलैस्तरङ्गैरेव हस्तैरुपगूहतीवालिङ्गतीव ।

व्याख्या—मदीया=मामकीना । जननीव=मातेव कौशल्येव । मान्येन=पूज्येन । तेन=दिवङ्गतेन । राज्ञा=महाराजेन पित्रा । वियुक्ता=विप्रयुक्ता । सा=पूर्वदृष्टा । इयं=सन्निकृष्टा सरयूनदी । विप्रकृष्टप्रदेशे=दूरे । वसन्तं=निवसन्तं वर्तमानं प्रेत्यागच्छन्तं वा । शिशिरानिलैः=शीतवातैः । तरङ्गहस्तैः=उर्मिरूपकरैः उपगूहतीव=आलिङ्गतीव परिष्वजतीव ।

समासः—मम इयं मदीया । शिशिर अनिलः येषु ते शिशिरानिलः तैः शिशिरानिलैः । तरङ्गा एव हस्ता तरङ्गहस्ताः तैः तरङ्गहस्तैः ।

भावार्थः—प्रिये ! मम जननी कौशल्या यथा पूज्येन तातेन विरहिता चिरप्रवासात् परावर्तमानं मां निजौ करौ प्रसार्य वातायनेनोपगूहितुमाकाङ्क्षति तथैवेयमपि सरयूनदी प्रोष्यागच्छन्तं मां शीतवातैः स्वीयैरूर्मिकरैरालिङ्गतीवेति पश्येति भावः ।

भाषार्थ—माननीय महाराजा दशरथ से बिछुड़ी हुई मेरी माता के समान यह सरयू नदी अपने शीतल तरंगरूपी हाथों से दूर से ही मुझे गले लगाना चाहती है ।। ६३ ।।

विरक्तसन्ध्याकपिशं पुरस्ताद्यतो रजः पार्थिवमुज्जिहीते ।
शङ्के हनूमत्कथितप्रवृत्तिः प्रत्युद्गतो मां भरतः ससैन्यः ।। ६४ ।।

अन्वयः—विरक्तसन्ध्याकपिशं पार्थिवरजः पुरस्ताद् यतः उज्जिहीते तस्मात् हनूमत्कथितप्रवृत्तिः भरतः ससैन्यः मां प्रत्युद्गतः (इति) शङ्के ।

सञ्जी०—विरक्तातिरक्ता या सन्ध्या तद्वत्कपिशं ताम्रवर्णम् । पृथिव्या इदं पार्थिवं रजो धूलिः पुरस्तादग्रे यतो यस्मात्कारणादुज्जिहीत उद्गच्छति तस्मात् हनुरस्यास्तीति हनूमान् । 'शरादीनां च' इति दीर्घः । तेन कथिता प्रवृत्तिरस्मदागमनवार्ता यस्मै स भरत ससैन्यः सन्मां प्रत्युद्गत इति शङ्के तर्कयामि 'शङ्का भयवितर्कयोः' इति शब्दार्णवे । अत्र यत्तदोर्नित्यसंबन्धात्तच्छब्दलाभः

व्याख्या—विरक्तसन्ध्याकपिशं=अतिरक्तसन्ध्याताम्रवर्णम् । पार्थिवं=पृथिव्याः

रजः=धूलिः। पुरस्तात्=अग्रे। यतः=यस्मात् कारणात्। उज्जिहीते=उद्गच्छति। तस्मात् हनुमत्कथितप्रवृत्तिः=आञ्जनेयोक्तमदागमनवृत्तान्तः। भरतः=कैकेयीनन्दनः। ससैन्यः=सेनासहितः सन्। मां=अग्रजम्। प्रत्युद्गतः=प्रत्युद्व्रजितः। इति शङ्के=तर्कयामि।

समासः—विरक्ता चासौ सन्ध्या च विरक्तसन्ध्या विरक्तसन्ध्येव कपिशं विरक्तसन्ध्याकपिशम्। पृथिव्या आगतं पार्थिवम्। हनूरस्यास्तीति हनूमान् हनूमता कथिता प्रवृत्तिः यस्मै स हनूमत्कथितप्रवृत्तिः। सैन्येन सह वर्तते ससैन्यः।

भावार्थः—प्रिये! सम्मुखे सायङ्कालीनरक्तवर्णा पृथिव्याः उत्थितो धूलिर्दृश्यते मन्ये हनूमद्द्वारा ममागमनवृत्तान्तं ज्ञात्वा कैकेयीपुत्रो भरतः सैन्येन साकं सादरं मत्स्वागतं कर्तुं समायातीति भावः।

भाषार्थ—देखो, लाल सन्ध्या के समान जो धूलि पृथ्वी से उड़ रही है, उससे जान पड़ता है कि हनुमान्‌जी से मेरे आने का समाचार सुनकर भरत सेना लेकर मेरा स्वागत करने आ रहे हैं॥ ६४॥

अद्धा श्रियं पालितसङ्गराय प्रत्यर्पयिष्यत्यनघां स साधुः।
हत्वा निवृत्ताय मृधे खरादीन् संरक्षितां त्वामिव लक्ष्मणो मे॥६५॥

अन्वयः—साधुः स पालितसङ्गराय मे अनघां संरक्षितां श्रियं मृधे खरादीन् हत्वा निवृत्ताय लक्ष्मणः त्वाम् इव प्रत्यर्पयिष्यति।

सञ्जी०—किंच साधुः सज्जनः स भरतः। 'साधुर्वार्धुषिके चारौ सज्जने वाच्यवत्' इति विश्वः। पालितसङ्गराय पालितपितृप्रतिज्ञाय मे मह्यमनघामदोषां भोगाभावादनुच्छिष्टां किन्तु संरक्षितां श्रियं मृधे युद्धे खरादीन् हत्वा निवृत्ताय मे लक्ष्मणः संरक्षितामनघां त्वामिव प्रत्यर्पयिष्यत्यद्धा सत्यम्। 'सत्ये त्वद्धाञ्जसा द्वयम्' इत्यमरः।

व्याख्या—प्रिये! साधुः=सज्जनः। सः=भरतः। पालितसङ्गराय=रक्षितपितृप्रतिज्ञाय। मे=मह्यम्। अनघां=अदोषाम् भोगाभावादनुच्छिष्टाम्, अपितु संरक्षितां=पालिताम्। श्रियं=राजलक्ष्मीम्। खरादीन्=खरप्रभृतीन्, राक्षसान्। हत्वा=व्यापाद्य। निवृत्ताय=परावृत्ताय। मे=मह्यम्। लक्ष्मणः=सौमित्रिः। संरक्षितामनघां त्वामिव=भवतीमिव। प्रत्यर्पयिष्यति=समर्पयिष्यति। अद्धा=सत्यम्।

समासः—पालितः सङ्गरो येन स पालितसङ्गरः तस्मै पालितसङ्गराय। न विद्यते अघं यस्याः सा अनघा तामनघाम्। खर आदिः येषां ते खरादयः तान् खरादीन्।

भावार्थः—प्रिये ! सत्स्वभावो भरतः पालितपितृप्रतिज्ञाय वनतो निवृत्ताय मह्यं संरक्षितां राज्यलक्ष्मीं तथैव परावर्तयिष्यति यथाऽनुजो लक्ष्मणः पञ्चवटीयुद्धे खरादीन् राक्षसान् निहत्याश्रमं प्रत्यागताय मे सुरक्षितां त्वां परावर्तितवानिति भावः।

भाषार्थ—खरदूषण आदि राक्षसों को मारकर जब मैं लौटा था उस समय लक्ष्मण ने तुम्हें मेरे हाथ सुरक्षित रूप में सौंप दिया था, मालूम पड़ता है कि उसी प्रकार अब सज्जन भरत वनवास की अवधि पूरी करके लौटे हुए मुझे सुरक्षित राज्यलक्ष्मी को अवश्य सौंप देंगे ॥ ६५ ॥

असौ पुरस्कृत्य गुरुं पदातिः पश्चादवस्थापितवाहिनीकः।
वृद्धैरमात्यैः सह चीरवासा मामर्घ्यपाणिर्भरतोऽभ्युपैति ॥६६॥

अन्वयः—असौ पदातिः चीरवासा भरतः पश्चादवस्थापितवाहिनीकः (सन्) गुरुं पुरस्कृत्य वृद्धैः अमात्यैः सह अर्घ्यपाणिः (सन्) अभ्युपैति।

सञ्जी०—असौ पदातिः पादाभ्यामततीति पदातिः पादचारी। चीरवासा वल्कलवसनो भरतः पश्चात्पृष्ठभागेऽवस्थापिता वाहिनी सेना येन स तथोक्तः सन्। 'नद्यृतश्च' इति कप्। गुरुं वसिष्ठं पुरस्कृत्य वृद्धैरमात्यैः सहार्घ्यपाणिः सन्मामभ्युपैति।

व्याख्या—प्रिये ! पश्य, असौ=एषः, विप्रकृष्टस्थः। पदातिः=पादचारी। चिरवासा=वल्कलवसनः। भरतः=कैकेयीनन्दनः। पश्चादवस्थापितवाहिनीकः=पृष्ठभागस्थापितसेनः सन्। गुरुं=वसिष्ठम्। पुरस्कृत्य=अग्रतो विधाय। वृद्धैः=स्थविरैः। अमात्यैः=मन्त्रिभिः। सह=समम्। अर्घ्यपाणिः=पूजोपकरणहस्तः। माम्=भ्रातरं रामम्। अभ्युपैति=अभिमुखं समागच्छति।

समासः—पश्चादवस्थापिता वाहिनी येन सः पश्चादवस्थापितवाहिनीकः। चीरं वासो यस्य स चीरवासाः। अर्घ्यार्थमिदमर्घ्यम् अर्घ्यं पाणौ यस्य स अर्घ्यपाणिः।

भावार्थः—प्रिये ! असौ पदातिः वल्कलवसनो भरतः मम स्वागताय सेनां पश्चादवस्थाप्य वसिष्ठं गुरुमग्रे कृत्वा वरिष्ठैः मन्त्रिभिः समं पूजोपकरणं स्वहस्तेनैव वहन् मत्समीपम् आगच्छति। त्याग-भ्रातृभक्ति-विनयादिभिः सद्गुणैः समन्वितमेनं सस्नेहं पश्येति भावः।

भाषार्थ—वल्कलवस्त्र पहने पैदल चलते हुए और हाथ में पूजा की सामग्री लिये हुए भरत वृद्ध मन्त्रियों के साथ मेरे ही पास आ रहे हैं, देखो। इनके आगे-आगे गुरु वसिष्ठजी चल रहे हैं और पीछे-पीछे सेना चली आ रही है।

पित्रा विसृष्टां मदपेक्षया यः श्रियं युवाप्यङ्कगतामभोक्ता ।
इयन्ति वर्षाणि तया सहोग्रमभ्यस्यतीव व्रतमासिधारम् ॥ ६७ ॥

अन्वयः—यः पित्रा विसृष्टाम् अङ्कगतां यां श्रियं युवापि मदपेक्षया अभोक्ता (सन्) इयन्ति वर्षाणि तया सह उग्रं आसिधारं व्रतम् अभ्यस्यति इव ।

सञ्जी०—यो भरतः पित्रा विसृष्टां दत्तामङ्कमुत्सङ्गं च गतामपि । यां श्रियं युवाऽपि मदपेक्षया मद्भक्त्याऽभोक्ता सन् । तृन्नन्तत्वात् 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' इति षष्ठीनिषेधः । इयन्ति वर्षाण्येतावतो वत्सरान् । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया, तया श्रिया सह स्त्रियेति च गम्यते । उग्रं दुश्चरमासिधारं नाम व्रतमभ्यस्यतीव वर्तयतीव । 'युवा युवत्या सार्धं यन्मुग्धभर्तृवदाचरेत् । अन्तर्निवृत्तसङ्गः स्यादासिधारव्रतं हि तत् ॥' इति यादवः । इदं चासिधाराचङ्क्रमणतुल्यत्वादासिधारव्रतमित्युक्तम् ।

व्याख्या—यः = भरतः । पित्रा=जनकेन । विसृष्टां=दत्ताम् । अङ्कगतामपि= उत्सङ्गप्राप्तामपि । श्रियं=राजलक्ष्मीम् । युवा=तरुणः । अपि मदपेक्षया=मम भक्त्या । अभोक्ता=अनुपयोक्ता । सन् । इयन्ति=एतावन्ति । वर्षाणि=हायनानि, चतुर्दशवर्षाणि । तया सह = श्रिया साकम् । उग्रं=कठोरं भयङ्करम्, दुश्चरम् । आसिधाराव्रतं=खड्गमुखावलहनरूपं नियमविशेषम् । अभ्यस्यतीव=आवर्तयतीव, आचरतीवेत्यर्थः ।

समासः—मम अपेक्षा मदपेक्षा तया मदपेक्षया । अङ्कं गता अङ्कगता ताम् अङ्कगताम् । भुनक्तीति भोक्ता न भोक्ता अभोक्ता । असेः धारा असिधारा असिधाराया इदम् आसिधारं तत् आसिधारम् । इदं परिमाणमस्येति अस्ति येषां तानि इयन्ति ।

भावार्थः—यो हि भरतः पित्रा प्रदत्तामपि, स्वयं तरुणः सन्नपि मयि पूज्यबुद्धया राजलक्ष्मीं स्वयमभुञ्जानः चतुर्दशवर्षपर्यन्ते दुष्करमसिधारायां चलनवद्व्रतमनुतिष्ठति । असिधाराव्रतं हि—

'युवा युवत्या सार्द्धं यन् मुग्धभ्रातृवदाचरेत् ।
अन्तर्निवृत्तसङ्गः स्यादासिधारव्रतं हि तत् ॥'

भाषार्थ—जैसे किसी युवा पुरुष की गोदमें कोई सुन्दरी स्त्री आकर बैठ जाय और वह उससे भोग न करके तलवार की धारा पर चलने के समान कठोर इन्द्रियों को वश में रखने का व्रत कर ले, वैसी ही भरत ने भी पिता की दी हुई राज्यलक्ष्मी को भोग करने की शक्ति रहते हुए भी मेरी भक्ति के कारण उसका भोग न करके १४ वर्ष तक कठिन असिधारा व्रत का पालन किया है ।

एतावदुक्तवति दाशरथौ तदीयामिच्छां विमानमधिदेवतया विदित्वा ।
ज्योतिष्पथादवततार सविस्मयाभिरुद्वीक्षितं प्रकृतिभिर्भरतानुगाभिः ॥६८॥

अन्वयः—दाशरथौ एतावदुक्तवति विमानं तदीयाम् इच्छाम् अधिदेवतया विदित्वा सविस्मयाभिः, भरतानुगाभिः प्रकृतिभिः उद्वीक्षितं सत् ज्योतिष्पथात् अवततार ।

सञ्जी०—दाशरथौ राम एतावदुक्तवति सति विमानं पुष्पकं कर्तृ तदीयां रामसम्बन्धिनीमिच्छामधिदेवतया मिषेण विदित्वा तत्प्रेरितं सदित्यर्थः । सविस्मयाभिर्भरतानुगाभिः प्रकृतिभिः प्रजाभिरुद्वीक्षितं (ऊर्ध्वंदृष्टं) सज्ज्योतिष्पथादाकाशादवततार ।

व्याख्या—दाशरथौ=दशथरसुते श्रीरामे । उक्तवति=कथितवति सति। विमानं=व्योमयानं पुष्पकम् । तदीयां=रामसम्बन्धिनीम् । इच्छां=आकाङ्क्षाम्, तत्रावतरणकामनाम् । अधिदेवतया=विमानवाहिकया देवतया । विदित्वा=अवगत्य । सविस्मयाभिः=आश्चर्ययुक्ताभिः । भरतानुगाभिः=भरतानुगामिनीभिः। प्रकृतिभिः=प्रजाभिः । उद्वीक्षितं=ऊर्ध्वं दृष्टं सत् । ज्योतिष्पथात् =आकाशमार्गात् । अवततार=भूमण्डलेऽवतीर्णम् । अधः समाययावित्यर्थः ।

समासः—दशरथस्यापत्यं पुमान् दाशरथिः तस्मिन् दाशरथौ । तस्य इयं तदीया तां तदीयाम् । ज्योतिषां पन्थाः ज्योतिष्पथः, तस्मात् ज्योतिष्पथात्। विस्मयेन सह वर्तन्ते इति सविस्मयाः ताभिः सविस्मयाभिः । भरतमनुगच्छन्तीति भरतानुगाः ताभिः भरतानुगाभिः ।

भावार्थः—श्रीरामवाक्यावसानानन्तरं रामस्यायोध्यायामवतरणकामनां विमानाधिष्ठिताधिदेवतामिव ज्ञात्वा भरतानुयायिनीभिः प्रजाभिः साश्चर्यं मुखमुद्गमय्य दृश्यमानं पुष्पकं विमानं गगनात् पृथिव्यामवातरदिति भावः ।

भाषार्थ—जब राम इस प्रकार कह रहे थे उसी समय राम की इच्छा को ही विमान का चालक मानकर वह विमान आकाश से नीचे उतर आया और भरतजी के पीछे चलनेवाली सारी जनता आश्चर्यचकित होकर उन्हें देखने लगी।

तस्मात्पुरःसरविभीषणदर्शितेन सेवाविचक्षणहरीश्वरदत्तहस्तः ।
यानादवातरददूरमहीतलेन मार्गेण भंगिरचितस्फटिकेन रामः ॥६९॥

अन्वयः—रामः सेवाविचक्षणहरीश्वरदत्तहस्तः पुरःसरविभीषणदर्शितेन अदूरमहीतलेन भंगि रचिकस्फटिकेन मार्गेण तस्मात् यानात् अवातरत् ।

सञ्जी०—रामः सेवायां विचक्षणः कुशलो हरीश्वरः सुग्रीवस्तेन दत्तो हस्तो

हस्तावलम्बो यस्य तादृशः सन् । स्थलज्ञत्वापुरःसरो विभीषणस्तेन दर्शितेनादूर-मासन्नं महीतलं यस्य तेन भङ्गिभिर्विच्छित्तिभी रचितस्फटिकेन बद्धस्फटिकेन सोपानपर्वणा मार्गेण तस्माद्यानात्पुष्पकादवातरदवतीर्णवान् । तरतेर्लङ् ।

व्याख्या—रामः = दाशरथिः । सेवाविचक्षणहरीश्वदत्तहस्तः = परचरण-निपुणवानरराजसुग्रीवदत्तहस्तावलम्बः सन् । पुरःसरविभीषणदर्शितेन = अग्रसर-विभीषणप्रदर्शितेन । मार्गेण = पथा । तस्मात् = पूर्वोक्तात् । यानात् = पुष्पक-विमानात् । अवातरत् = अवतीर्णः । भूमौ समागत इत्यर्थः ।

समासः—हरीणामीश्वरः हरीश्वरः सेवायां विचक्षणः सेवाविचक्षणः सेवा-विचक्षणश्चासौ हरीश्वरः सेवाविचक्षणहरीश्वरः सेवाविचक्षणहरीश्वरेण दत्तः हस्तो यस्मै स सेवाविचक्षणहरीश्वरदत्तहस्तः । पुरः सरतीति पुरःसरः पुरस्सरश्चासौ विभीषणश्चेति पुरःसरविभीषणः पुरस्सरविभीषणेन दर्शितः पुरस्सरविभीषण दर्शितः तेन पुरस्सरविभीषणदर्शितेन । मह्याः तलं महीतलम् । न दूरमदूरम् अदूरं महीतलं यस्य स अदूरमहीतलः तेन अदूरमहीतलेन । भृङ्गिषु भृङ्गिभिर्वा रचिताः स्फटिका यस्य स भृंगिरचितस्फटिकः तेन भृंगीरचितस्फटिकेन । यान्ति जना अनेनेति यानम् तस्मात् यानात् ।

भावार्थः—दाशरथिसेवानिपुणेन सुग्रीवेण दत्तकरावलम्बो रामः, रावण-पुष्पकविमानतः पूर्णपरिचितेनाऽग्रेसरेण विभीषणेन प्रदर्शितस्फटिकमयसोपानपथा पृथिव्यामवतीर्ण इति भावः ।

भाषार्थ—सेवा में चतुर सुग्रीव के हाथों का अवलम्बन करके स्फटिक मणियों से जड़ी हुई सीढ़ी से रामचन्द्रजी विमान से उतरे और विभीषण आगे-आगे मार्ग दिखाते चले ।। ६९ ।।

इक्ष्वाकुवंशगुरवे प्रणतः प्रणम्य स भ्रातरं भरतमर्घ्यपरिग्रहान्ते ।
पर्यश्रुरस्वजत मूर्धनि चोपजघ्रौ तद्भक्त्यपोढपितृराज्यमहाभिषेके ।। ७० ।।

अन्वयः—प्रयतः सः इक्ष्वाकुवंशगुरवे प्रणम्य अर्घ्यपरिग्रहान्ते पर्यश्रुः (सन्) भ्रातरं भरतम् अस्वजत् तद्भक्त्यपोढपितृराज्यमहाभिषेके मूर्धनि उपजघ्रौ च ।

सञ्जी०—प्रयतः स राम इक्ष्वाकुवंशगुरवे वसिष्ठाय प्रणम्य नमस्कृत्यार्घ्यस्य परिग्रहः स्वीकारस्तस्यान्ते पर्यश्रुः परिगतानन्दबाष्पः सन् भ्रातरं भरतमस्वजता-लिङ्गत् । तस्मिन् रामे भक्त्याऽपोढः परिहृतः पितृराज्यमहाभिषेको येन तस्मिन्-मूर्धन्युपजघ्रौ च । 'घ्रा गन्धोपादाने' लिटि रूपम् ।

व्याख्या—प्रयतः=बाह्याभ्यन्तरपवित्रः । सः=रामः । इक्ष्वाकुवंशगुरवे=

इक्ष्वाकुकुलाचार्याय वसिष्ठाय। प्रणम्य=नमस्कृत्य। अर्घ्यपरिग्रहान्ते=अर्घ्य-स्वीकारावसाने। ग्रहणानन्तरम्। पर्यश्रुः=उद्‌गतानन्दबाष्पः सन्। भ्रातरं=अनुजम्। भरतम्=कैकेयीतनुजम्। अस्वजत्=आलिंगितवान्। तद्‌भक्त्यपोढ-पितृराज्यमहाभिषेके = रामभक्तिपरिहृतजनकराज्यविशिष्टाभिषेचने। मूर्धनि=भरतशिरसि उपजघ्रौ=आघ्रातवान्।

समासः—इक्ष्वाकोः वंशः इक्ष्वाकुवंशः इक्ष्वाकुवंशस्य गुरुः इक्ष्वाकुवंशगुरुः तस्मै इक्ष्वाकुवंशगुरवे। अर्घार्थं द्रव्यमर्घ्यं अर्घ्यस्य परिग्रहः अर्घ्यपरिग्रहः अर्घ्य-परिग्रहस्यान्तः अर्घ्यपरिग्रहान्तः तस्मिन् अर्घ्यपरिग्रहान्ते। परिगतमश्रु यस्य सः पर्यश्रुः। तस्य भक्तिः तद्भक्तिः तद्भक्त्या अपोढः तद्भक्त्यपोढः राज्ञः कर्म भावो वा राज्यं पितू राज्यं पितृराज्यम् महांश्चासौ अभिषेकः महाभिषेकः पितृराज्यस्य महाभिषेकः पितृराज्यमहाभिषेकः तद्भक्त्याऽपोढः पितृराज्यमहाभिषेकः येन स तद्भक्त्यपोढपितृराज्यमहाभिषेकः तस्मिन् तद्भक्त्योढपितृराज्यमहाभिषेके।

भावार्थः—पवित्रात्मा श्रीरामः कुलगुरुं वसिष्ठमुनिं प्रथमं प्रणम्य भरतोप-हृतमर्घ्यादिकं स्वीकृत्य प्रेम्णा भरतं समालिङ्ग्य च निजानुरागत्यक्तजनकराज्या-भिषेके भरतशिरसि आघ्रातवानिति भावः।

भाषार्थ—विनीत राम ने ईक्ष्वाकु वंश के गुरु वसिष्ठजी को प्रणाम करके बाद अर्घ्य ग्रहण करके आँखों में आँसू भरकर उन्होंने पहले भरतजी को छाती से लगा लिया, पुनः उनके उस मस्तक को सूँघा जिसने राम की भक्ति के कारण राज्याभिषेक को अस्वीकार कर दिया था॥ ७०॥

श्मश्रुप्रवृद्धिजनिताननविक्रियांश्च प्लक्षान्प्ररोहजटिलानिव मन्त्रिवृद्धान्।
अन्वग्रहीत्प्रणमतः शुभदृष्टिपातैर्वार्तानुयोगमधुराक्षरया च वाचा॥ ७१॥

अन्वयः—श्मश्रुप्रवृद्धिजनिताननविक्रियान् प्ररोहजटिलान् प्लक्षान् इव प्रणमतः मन्त्रिवृद्धान् च शुभदृष्टिपातैः वार्तानुयोगमधुराक्षरया वाचा च अन्वग्रीत्।

सञ्जी०—श्मश्रूणां मुखरोम्णा प्रवृद्धया संस्काराभावादभिवृद्धया जनितान-नेषु विक्रिया विकृतिर्येषां तानत एव प्ररोहैः शाखावलम्बिभिरधोमुखैर्मूलैर्जटिला-ञ्जटावतः प्लक्षान् न्यग्रोधानिव स्थितान्। प्रणमतो मन्त्रिवृद्धांश्च शुभैः कृपार्द्रै-र्दृष्टिपातैरवलोकनैर्वार्तस्यानुयोगेन कुशलप्रश्नेन मधुराक्षरया वाचा चान्वग्रही-दनुगृहीतवान्।

व्याख्या—श्मश्रूप्रवृद्धिजनिताननविक्रियान्=मुखरोमाभिवृद्धयुत्पन्नमुखविका-रान्। अत एवप्ररोहजटिलान्=शाखावलम्बिमूलजटावतः। प्लक्षान् इव=न्यग्रोधान् इव। स्थितान् प्रणमतः=प्रणामं कुर्वतः। मन्त्रिवृद्धान्=सचिवस्थविरान् च शुभ-

दृष्टिपातैः=कृपार्द्रावलोकनैः। वार्तानुयोगमधुराक्षरया=कुशलप्रश्नकोमलवर्णया। वाचा च=वाण्या च। अन्वग्रहीत्=अनुगृहीतवान् श्रीराम इति शेषः।

समासः—आननेषु विक्रिया आननविक्रिया श्मश्रूणां प्रवृद्धिः श्मश्रुप्रवृद्धिः श्मश्रुप्रवृद्धया जनिता आननविक्रिया येषां ते श्मश्रुप्रवृद्धिजनिताननविक्रिया तान् श्मश्रुप्रवृद्धिजनिताननविक्रियान्। प्ररोहैः जटिलाः प्ररोहजटिला तान् प्ररोहजटिलान्। मन्त्रिणश्च ते वृद्धा मन्त्रिवृद्धा तान् मन्त्रिवृद्धान्। दृष्टेः पाताः दृष्टिपाताः शुभाश्च ते दृष्टिपाताः शुभदृष्टिपाताः तैः शुभदृष्टिपातैः। वार्तस्यानुयोगो वार्तानुयोगः वार्तानुयोगे मधुराणि अक्षराणि यस्यां सा वार्तानुयोगमधुराक्षरा तया वार्तानुयोगमधुराक्षरया।

भावार्थः—शाखादिषु प्रलम्बमानस्रंसज्जटायुक्तविकृतवटवृक्षवद् रामविरहे क्षौरादिसंस्काराभावाद् दीर्घकूर्चान् प्रणमतो मन्त्रिवृद्धान् कृपार्द्रैरवलोकनैः कुशलप्रश्नेन मधुरया गिरा चानुगृहीतवानिति भावः।

भावार्थ—फिर रामजी प्रणाम करते हुए वृद्ध मन्त्रियों से मिले और प्रेमभरी आँखों से मधुर भाषा में कृपापूर्वक उनसे कुशल-मंगल पूछा मूँछ-दाढ़ी बढ़ जाने के कारण वे ऐसे दिखाई दे रहे थे जैसे घने बरोहवाला वट का वृक्ष हो ॥७१॥

दुर्जातबन्धुरयमृक्षहरीश्वरो मे पौलस्त्य एष समरेषु पुरःप्रहर्ता।
इत्यादृतेन कथितौ रघुनन्दनेन व्युत्क्रम्य लक्ष्मणमुभौ भरतो ववन्दे ॥ ७२ ॥

अन्वयः—अयं मे दुर्जातबन्धुः ऋक्षहरीश्वरः एष समरेषु पुरःप्रहर्ता पौलस्त्यः इत्यादृतेन रघुनन्दनेन कथितौ उभौ लक्ष्मणं व्युत्क्रम्य भरतः ववन्दे।

सञ्जी०—अयं मे दुर्जातबन्धुरापद्बन्धुः। 'दुर्जातं व्यसनं प्रोक्तम्' इति विश्वः। ऋक्षहरीश्वरः सुग्रीवः। एष समरेषु पुरःप्रहर्ता पौलस्त्यो विभीषणः इत्यादृतेनादरवता। कर्तरि क्तः। रघूणां नन्दनेन रामेण कथितावुभौ विभीषण-सुग्रीवौ लक्ष्मणमनुजमपि व्युत्क्रम्यालिङ्गनाभिरसम्भाव्य भरतो ववन्दे।

व्याख्या—अयं=एषः। मे=मम। दुर्जातबन्धुः=आपद्बन्धुः। ऋक्षहरीश्वरः=भल्लूकवानराधीशः, सुग्रीवः। एष=निकटस्थोऽयम्। समरेषु=युद्धेषु पुरःप्रहर्ता=प्राक् प्रहार्कर्ता। पौलस्त्यः=पुलस्त्यपौत्रो विभीषणः। इति=इत्थम्। आदृतेन=आदरवता। रघुनन्दनेन=श्रीरामेण। कथितौ=उक्तौ दत्तपरिचयौ। उभौ=द्वौ, विभीषणसुग्रीवौ। लक्ष्मणं=सौमित्रिम् भ्रातरम्। व्युत्क्रम्य=समुलङ्घ्य, विहाय आलिङ्गनादिभिः सम्भाव्य। भरतः=कैकेयीसुतः। ववन्दे=अभिवादितवान्।

समासः—दुर्जाते बन्धुः दुर्जातबन्धुः। ऋक्षाश्च हरिणश्च ऋक्षहरिणः ऋक्षहरीणामीश्वरः ऋक्षहरीश्वरः। पुलस्त्यस्यापत्यं पुमान् पौलस्त्यः। रघूणां नन्दनः रघून् वा नन्दयतीति रघुनन्दनः तेन रघुनन्देन।

भावार्थः—अयं मे आपद्बन्धुः भल्लूकवानराधिपतिः सुग्रीवोऽस्ति, एष च रावणविरोधेऽस्मत्पक्षीयः प्रथमो वीरो विभीषणः इत्युक्त्वा आदरकारिणा श्रीरामेण सादरं दत्तपरिचयौ द्वौ सुग्रीवविभीषणौ आनन्दातिशयेन समादरेण च अनुजं लक्ष्मणमपि विहाय भरतः अभिवादितवान् आलिङ्गितवान् च इति भावः।

भाषार्थ—भरतजी से सुग्रीव का परिचय देते हुए राम ने कहा कि ये वानर और भालुओं के राजा हैं, ये बड़े दुःख के समय मेरे काम आये हैं, पुनः विभीषण का परिचय देते हुए राम ने कहा कि ये पुलस्त्य कुल में उत्पन्न विभीषण हैं। ये युद्ध के समय हमसे आगे बढ-बढकर शत्रुओं पर प्रहार करते थे, यह सुनकर भरतजी ने लक्ष्मण को छोड़कर पहले उन्हीं दोनों को प्रणाम लिया ।। ७२ ।।

सौमित्रिणा तदनु संससृजे स चैनमुत्थाप्य नम्रशिरसं भृशमालिलिङ्ग ।
रूढेन्द्रजित्प्रहरणव्रणकर्कशेन क्लिश्यन्निवास्य भुजमध्यमुरः स्थलेन ॥७३॥

अन्वयः—तदनु स सौमित्रिणा संससृजे नम्रशिरसं एनं उत्थाप्य भृशम् आलिलिङ्ग रूढेन्द्रजित्प्रहरणव्रणकर्कशेन अस्य उरःस्थलेन भुजमध्यं क्लिश्यन् इव।

सञ्जी०—तदनु सुग्रीवादिवन्दनानन्तरं स भरतः सौमित्रिणा संससृजे सङ्गतः। 'सृज विसर्गे' दैवादिकात्कर्तरि लिट्। नम्रशिरसं प्रणतमेनं सौमित्रिमुत्थाप्य भृशं गाढमालिलिङ्ग च। किं कुर्वन् रूढेन्द्रजित्प्रहरणव्रणैः कर्कशेनास्य सौमित्रेरुरःस्थलेन भुजमध्यं स्वकीयं क्लिश्यन्निव पीडयन्निव। क्लिश्नातिरयं सकर्मकः। क्लिश्नाति भुवनत्रयम् इति दर्शनात्। ननु रामायणे—'ततो लक्ष्मणमासाद्य वैदेहीं च परन्तपः। अभिवाद्य ततः प्रीतो भरतो नाम चाऽब्रवीत् ॥' इति भरतस्य कानिष्ठ्यं प्रतीयते। किमर्थं ज्यैष्ठ्यमवलम्ब्यानाजवेन श्लोको व्याख्यातः ? सत्यम्। किन्तु रामायणश्लोकार्थष्टीकाकृतोक्तः श्रूयताम् 'ततो लक्ष्मणमासाद्य—' इत्यादिश्लोक आसदनं लक्ष्मणवैदेह्योः, अभिवादनं तु वैदेह्या एव, अन्यथा पूर्वोक्तं भरतस्य ज्यैष्ठ्यं विरुध्येतेति।

व्याख्या—तदनु=सुग्रीवविभीषणाभिवादनानन्तरम्। सः=भरतः। सौमित्रिणा =लक्ष्मणेन। संससृजे=संजग्ये सम्मिलितः। नम्रशिरसं=प्रणतम्। एनं=सौमित्रिम्। उत्थाप्य=उत्थितं विधाय। रूढेन्द्रजित्प्रहरणव्रणकर्कशेन=शुष्कमेघनादास्त्रव्रणकठोरेण। अस्य=सौमित्रेः। उरःस्थलेन=वक्षःस्थलेन। भुजमध्यं=स्वकीयबाहुमध्यं। क्लिश्यन् इव=पीडयन्निव। भृशं=गाढम्। आलिलिङ्ग च=आलिङ्गितवान् च।

समासः—सुमित्राया अपत्यं पुमान् सौमित्रिः तेन सौमित्रिणा। नम्रं शिरः

यस्य स नम्रशिरः तं नम्रशिरसम् । इन्द्रं जयतीतीन्द्रजित् इन्द्रजितः प्रहरणं इन्द्रजित्प्रहरणम् इन्द्रजित्प्रहरणस्य व्रणा इन्द्रजित्प्रहरणव्रणाः रूढाश्च ते इन्द्रजित्प्रहरव्रणाश्चेति रूढेन्द्रजित्प्रहरणव्रणाः तैः कर्कशमिति रूढेन्द्रजित्प्रहरणव्रणकर्कशं तेन रूढेन्द्रजित्प्रहरणव्रणकर्कशेन । उरसः स्थलम् उरःस्थलं तेन उरःस्थलेन ।

भावार्थः—भरतः सुग्रीवविभीषणाभिवादनानन्तरं नतमस्तकं लक्ष्मणं बाहुभ्यामुत्थाप्य मेघनादस्य प्रहरणव्रणानां शुष्कप्रायत्वात् रुक्षवक्षःस्थलेन स्वभुजाभ्यन्तरं क्लेशयन्निव वात्सल्याधिक्यात् गाढमालिलिङ्गेति भावः ।

भाषार्थ—उसके बाद भरतजी लक्ष्मण से मिले और प्रणाम के लिए झुके हुए लक्ष्मण के मस्तक को उठाकर मेघनाद के प्रहारों से घाव के कारण कर्कश हुई उनकी छाती को अपनी भुजाओं से दबाते हुए उन्हें अपनी छाती से लगा लिया ।। ७३ ।।

रामाज्ञया हरिचमूपतयस्तदानीं कृत्वा मनुष्यवपुरारुरुहुर्गजेन्द्रान् ।
तेषु क्षरत्सु बहुधा मदवारिधाराः शैलाधिरोहणसुखान्युपलेभिरे ते ।।७४।।

अन्वयः—तदानीं हरिचमूपतयः रामाज्ञया मनुष्यवपुः कृत्वा गजेन्द्रान् आरुरुहुः बहुधा मदवारिधाराः क्षरत्सु तेषु ते शैलाधिरोहणसुखानि उपलेभिरे ।

सञ्जी०—तदानीं हरिचमूपतयो रामाज्ञया मनुष्यवपुः कृत्वा गजेन्द्राना-रुरुहुः । बहुधा मदवारिधाराः क्षरत्सु वर्षत्सु तेषु गजेन्द्रेषु ते कपियूथनाथाः शैलाधिरोहणसुखान्युपलेभिरेऽनुबभूवुः ।

व्याख्या—तदानीं=तस्मिन् समये । हरिचमूपतयः=वानरसेनापतयः । रामाज्ञया=रामस्यादेशेन । मनुष्यवपुः=नरशरीरं । कृत्वा=विधाय । गजेन्द्रान् =हस्तिश्रेष्ठान् । आरुरुहुः=आरूढवन्तः । बहुधा=अनेकशः । मदवारिधाराः =दानजलधाराः । क्षरत्सु=वर्षत्सु । तेषु=गजेन्द्रेषु, ते वानरसेनापतयः । शैलाधिरोहणस्य=पर्वतारोहणस्य । सुखानि=प्रमोदान् । उपलेभिरे=प्राप्तवन्तः ।

समासः—हरीणां चम्वः हरिचम्वः हरिचमूनां पतयः हरिचमूपतयः । रामस्य आज्ञा रामाज्ञा तया रामाज्ञया । मनोरपत्यानि पुमांसो मनुष्याः मनुष्याणां वपुः मनुष्यवपुः तत् मनुष्यवपुः । गजेषु इन्द्रा गजेन्द्राः तान् गजेन्द्रान् । मदस्य वारीणि मदवारीणि मदवारीणां धारा मदवारिधाराः ता मदवारिधाराः । क्षरन्तीति क्षरन्तः तेषु क्षरत्सु । शैलेषु अधिरोहणं शैलाधिरोहणम् । शैलाधिरोहणस्य-सुखानि शैलाधिरोहणसुखानि तानि शैलाधिरोहणसुखानि ।

भावार्थः—तस्मिन् समये श्रीरामस्यादेशेन शोभायात्रायां वानरसेनापतयः

मानवशरीरं सन्धार्यं गजेन्द्रेषु समारुरुहुः मदस्राविषु समुन्नतेषु गजेन्द्रेषु समारूढास्ते पर्वतारोहणसुखं समासादितवन्त इति भावः।

भाषार्थ—राम के कहने से वानर और भालुओं के सेनापति मनुष्यों का वेश बना-बनाकर उन हाथियों पर चढ़ गये, जिनके मस्तक से मद की धारा बह रही थी। इसलिए सूँड़ की ओर से चढ़ते समय उनको वही आनन्द मिला मानो झरनोंवाले पहाड़ों पर ही चढ़ रहे हों ॥ ७४ ॥

सानुप्लवः प्रभुरपि क्षणदाचराणां भेजे रथान् दशरथप्रभवानुशिष्टः।
मायाविकल्परचितैरपि ये तदीयैर्न स्यन्दनैस्तुलितकृत्रिमभक्तिशोभाः ॥७५॥

अन्वयः—सानुप्लवः क्षणदाचराणां प्रभुः अपि दशरथप्रभवानुशिष्टः रथान् भेजे ये मायाविकल्परचितैः अपि तदीयैः स्यन्दनैः तुलितकृत्रिमभक्तिशोभा न (भवन्ति)

सञ्जी०—सानुप्लवः सानुगः। 'अभिसारस्त्वनुसरः सहायोऽनुप्लवोऽनुगः' इति यादवः। क्षणदाचराणां रक्षसां प्रभुर्विभीषणोऽपि। प्रभवत्यस्मादिति प्रभवो जनकः। दशरथः प्रभवो यस्य स दशरथप्रभवो रामः। तेनानुशिष्ट आज्ञप्तः सन्। रथान्भेजे। तानेव विशिनष्टि—ये रथा मायाविकल्परचितैः संकल्पविशेषनिर्मितैरपि तदीयैर्विभीषणीयैः स्यन्दनै रथैस्तुलितकृत्रिमभक्तिशोभास्तुलिता समीकृतां कृत्रिमा क्रियया निर्वृत्ता भक्तीनां शोभा येषां ते तथोक्ता न भवन्ति। तेऽपि तत्साम्यं न लभन्त इत्यर्थः। कृत्रिमेत्यत्र 'ड्वितः क्त्रिः' इति क्त्रिप्रत्ययः। 'क्त्रेर्मम्नित्यम्' इति ममागमः।

व्याख्या—सानुप्लवः=सानुचरः। क्षणदाचराणां=राक्षसानाम्। प्रभुः=स्वामी अपि विभीषणोऽपि। दशरथप्रभवानुशिष्टः=दशरथपुत्ररामाज्ञप्तः। रथान् =स्यान्दनान्। भेजे=सिषेवे, आरुरोह। ये=रथाः। मायाविकल्परचितैः अपि =सङ्कल्पविशेषनिर्मितैरपि। तदीयैः=विभीषणसम्बन्धिभिः। स्यन्दनैः=रथैः। तुलितकृत्रिमभक्तिशोभाः=समीकृतक्रियानिवृत्तरचनाकान्तयः न भवन्ति।

समासः—अनुप्लवैः सह वर्तते इति सानुप्लवः। क्षणदासु चरन्तीति क्षणदाचराः तेषां क्षणदाचराणाम्। प्रभवतीति प्रभुः। दशसु दिक्षु रथो यस्य सः दशरथः प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः दशरथः प्रभवो यस्य स दशरथप्रभवः दशरथप्रभवेणानुशिष्टः दशरथप्रभवानुशिष्टः। मायाया मायया वा विकल्पः मायाविकल्पः मायाविकल्पेन रचिता मायाविकल्परचिताः तै मायाविकल्परचितैः। तस्येमे तदीयाः तैः तदीयैः। भक्तीनां शोभा भक्तिशोभा। क्रियया निवृत्ता कृत्रिमा, कृत्रिमा चासौ भक्तिशोभा च कृत्रिमभक्तिशोभा तुलिता कृत्रिमभक्तिशोभा येषां ते तुलितकृत्रिमभक्तिशोभाः।

भावार्थः—अनुचरसहितो निशाचरराजो विभीषणोऽपि रामस्यादेशेन रथानारुरोह। स तेषां श्रीरामस्यनन्दनानामद्भुतां सुषमामालोक्य मायाशक्तिबलेन राक्षसैः रचितेषु रथेषु तद्रचनासाम्यं न लब्धवान्। मनुष्यरचनायां त्रुटिसम्भवेऽपि मायिकरचनायां तद्भाव त्तदुत्कृष्टत्वं सम्भवतीति तस्य निश्चयोऽनिश्चयतां गतः, यतो राक्षसानां मायिकरचनापेक्षयाऽयोध्यास्थशिल्पिरचितरथेषु लोकोत्तरत्वमुपलभ्यते।

भाषार्थ—राम की आज्ञा से राक्षसराज विभीषण और उनके साथी भी रथों पर चढ़ गये, वे रथ यद्यपि मनुष्यों के बनाये थे फिर भी वे इतने सुन्दर थे कि राक्षसों की माया से बनाये हुए रथ भी उनके सामने तुच्छ थे ॥ ७५ ॥

भूयस्ततो रघुपतिर्विलसत्पताकमध्यास्त कामगति सावरजो विमानम्।
दोषातनं बुधबृहस्पतियोगदृश्यस्तारापतिस्तरलविद्युदिवाभ्रवृन्दम् ॥ ७६ ॥

अन्वयः—ततः रघुपतिः सावरजः विलसत्पताकं कामगति विमानं भूयः बुधबृहस्पतियोगदृश्यः तारापतिः दोषातनं तरलविद्युत् अभ्रवृन्दम् इव अध्यास्त।

सञ्जी०—ततो रघुपतिः सावरजो भरतलक्ष्मणसहितः सन्। विलसत्पताकं कामेनेच्छानुसारेण गतिर्यस्य तद्विमानं भूयः पुनरपि। बुधबृहस्पतिभ्यां योगेन दृश्यो दर्शनीयस्तारापतिश्चन्द्रो दोषाभवं दोषातनम्। "सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युटचुलौ तुट च" इत्यनेन 'दोषा' शब्दादव्ययाट्ट्युप्रत्ययः। तरलविद्युच्चञ्चलतडिदभ्रवृन्दमिव। अध्यास्ताधिष्ठितवान्।

व्याख्या—ततः=अनुगामिवाहनारोहणानन्तरम्। रघुपतिः=श्रीरामः। सावरजः=सानुजः भरतलक्ष्मणसहितः। विलसत्पताकं=शोभमानध्वजम्। कामगतिः=इच्छासञ्चारि। विमानं=व्योमयानं पुष्पकम्। पुनः=भूयोऽपि बुधबृहस्पतियोगदृश्यः=गुरुसौम्यसङ्गतिदर्शनीयः। तारापतिः=चन्द्रः। दोषातनं=नैशम्। तरलविद्युत=चलत्सौदामिनीकम्। अभ्रवृन्दमिव=मेघव्यूहमिव यथा अध्यास्त=आरोहत।

समासः—रघूणां पतिः रघुपतिः। विलसन्त्यः पताका यस्मिन् तत् विलसत्पताकम्। कामेन कामं वा गतिर्यस्य तत् कामगति तत् कामगति। अवरस्मिन् काले जातौ अवरजौ ताभ्यां सह वर्तते इति सावरजः। बुधश्च बृहस्पतिश्च बुधबृहस्पती, बुधबृहस्पत्योर्योगः बुधबृहस्पतियोगः बुधबृहस्पतियोगेन दृश्यः बुध-बृहस्पतियोगदृश्यः। ताराणां पतिः तारापतिः। तरला विद्युत् यस्मिन् तत् तरलविद्युत तत् तरलविद्युत्। दोषाभवं दोषातनं तद् दोषातनम्। अभ्राणां वृन्दम् अभ्रवृन्दम्।

भावार्थः—ततो रामः भरतलक्ष्मणसहितः सन् चलत्पताकाभिः शोभमानं स्वेच्छानुसारेण विचरणशीलं पुष्पकविमानमधिरूढः बुधगुरुभ्यां संयुक्तश्चन्द्रमा चञ्चलविद्युच्चमत्कृतं मेघमण्डलं समारूढः इव शुशुभे इति भावः।

भाषार्थ—उसके बाद राम भी भरत और लक्ष्मण के साथ पताकाओं से सजे हुए और इच्छानुसार चलनेवाले पुष्पक विमान पर उस प्रकार चढ़ गये, जिस प्रकार बुध और बृहस्पति के साथ होने से विशेष दर्शनीय चन्द्रमा सन्ध्या के समय चञ्चल बिजलीयुक्त बादलों पर बैठता है ॥ ७६ ॥

तत्रेश्वरेण जगतां प्रलयादिवोर्वीं वर्षात्ययेन रुचमभ्रघनादिवेन्दोः ।
रामेण मैथिलसुतां दशकण्ठकृच्छ्रात्प्रत्युद्धृतां धृतिमतीं भरतो ववन्दे ॥७७॥

अन्वयः–तत्र जगताम् ईश्वरेण प्रलयात् उर्वीम् इव वर्षात्ययेन अभ्रघनात् इन्दोः रुचम् इव रामेण दशकण्ठकृच्छ्रात् प्रत्युद्धृतां धृतिमतीं मैथिलसुतां भरतः ववन्दे।

सञ्जी०—तत्र विमाने जगतामीश्वरेणादिवराहेण प्रलयादुर्वीमिव । वर्षात्ययेन शरदागमेनाभ्रघनान्मेघसङ्घातादिन्दो रुचं चन्द्रिकामिव । रामेण दशकण्ठ एव कृच्छ्रं सङ्कटं तस्मात्प्रत्युद्धृतां धृतिमतीं सन्तोषवतीं मैथिलसुतां सीतां भरतो ववन्दे।

व्याख्या—तत्र = तस्मिन् पुष्पकविमाने । जगतां = लोकानाम् । ईश्वरेण = स्वामिना आदिवराहेण । प्रलयात् = कल्पान्तात् । हिरण्याक्षकृतविनाशात् उर्वीम् इव = पृथिवीम् इव । वर्षात्ययेन = शरदागमेन । अभ्रघनात् = मेघसङ्घात् । इन्दोः = चन्द्रमसः । रुचम् इव = कान्तिमिव, चन्द्रिकामिव । रामेण = रघुपतिना अग्रजेन । दशकण्ठकृच्छ्रात् = रावणसङ्कटात् । प्रत्युद्धृतां = प्रत्युन्मोचिताम् । धृतिमतीं = सन्तोषवतीम् धीरताशालिनीम् । मैथिलसुतां = जनकनन्दिनीं सीताम् । भरतः = कैकेयीनन्दनः । ववन्दे = अभिवादितवान् ।

समासः—वर्षाणामत्ययो यस्मिन् स वर्षात्ययः तेन वर्षात्ययेन । अभ्राणां घनमभ्रघनं तस्मात् अभ्रघनात् । मिथिलानां राजा मैथिलः मैथिलस्य सुता मैथिलसुता तां मैथिलसुताम् । दश कण्ठा यस्य स दशकण्ठः दशकण्ठ एव कृच्छ्रं दशकण्ठकृच्छ्रं तस्मात् दशकण्ठच्छ्रात् । धृतिरस्यास्तीति धृतिमतीं तां धृतिमतीम् ।

भावार्थः—यथा विश्वस्वामिना आदिवराहेण पातालगता पृथ्वी हिरण्याक्षात् समुद्धृता यथा वा वर्षतीं सन्ततधारासु वर्षासु अदृश्या चन्द्रज्योत्स्ना शरदागमेन पुनरानीयते तथैव रावणरूपसङ्कटात् श्रीरामेण समुद्धृतां धैर्यवतीं सीतां कैकेयीतनयो भरतः विमाने समुपेत्याभिवादितवानिति भावः ।

भाषार्थ—जिस प्रकार आदिवाराह ने प्रलय से पृथ्वी का उद्धार किया था और जिस प्रकार वर्षा ऋतु बीत जाने पर शरद् ऋतु बादलों से चन्द्रमा की चांदनी को बचाता है उसी प्रकार राम ने रावणरूपी संकट से जिसे उबार लिया था, उस धैर्यधारिणी सीताजी को भरत ने प्रणाम किया ॥ ७७ ॥

लङ्केश्वरप्रणतिभङ्गदृढव्रतं तद् वन्द्यं युगं चरणयोर्जनकात्मजायाः ।
ज्येष्ठानुवृत्तिजटिलं च शिरोऽस्य साधोरन्योन्यपावनमभूदुभयं समेत्य: ॥७८॥

अन्वयः—लङ्केश्वरप्रणतिभङ्गदृढव्रतं वन्द्यं जनकात्मजायाः चरणयोः युगं ज्येष्ठानुवृत्तिजटिलं साधोः अस्य शिरः च उभयं समेत्य अन्योन्यपावनम् अभूत् ।

सञ्जी०—लङ्केश्वरस्य रावणस्य प्रणतीनां भङ्गेन निरासेन दृढव्रतमखण्डित-पातिव्रत्यमत एव वन्द्यं तज्जनकात्मजायाश्चरणयोर्युगं ज्येष्ठानुवृत्त्या जटिलं जटायुक्तं साधोः सज्जनस्यास्य भरतस्य शिरश्चेत्युभयं समेत्य मिलित्वाऽन्यो-न्यस्य पावनं शोधकमभूत् ।

व्याख्या—लङ्केश्वरप्रणतिभङ्गदृढव्रतं = दशाननप्रणामनिरासाखण्डितपाति-व्रत्यम् । अत एव वन्द्यं=अभिवादनीयम् । तत=पूर्ववन्दितम् । जनकात्मजाया = जनकतनयायाः सीतायाः । चरणयोः = पादयोः । युगं = युग्मम् । ज्येष्ठानुवृत्ति-जटिलं = अग्रजानुसरणजटायुक्तम् । साधोः = सज्जनस्य । अस्य = भरतस्य । शिरश्च = मस्तकश्च । इति = इत्थम् । उभयं = द्वयम् । समेत्य=मिलित्वा । अन्योऽन्यपावनं = परस्परशोधकम् । अभूत् = अभवत् ।

समासः—लङ्काया ईश्वरः लङ्केश्वरः लङ्केश्वरस्य प्रणतयः लङ्केश्वर-प्रणतयः लङ्केश्वरप्रणतीनां भङ्गेन दृढं व्रतं यस्य तत् लङ्केश्वरप्रणतिभङ्गदृढ-व्रतम् । वन्दितुं योग्यं वन्द्यम् । आत्मनो जाता आत्मजा जनकस्य आत्मजा जनकात्मजा तस्याजनकात्मजायाः । ज्येष्ठस्यानुवृत्तिः ज्येष्ठानुवृत्तिः ज्येष्ठानुवृत्त्या जटिल ज्येष्ठानुवृत्तिजटिलम् । अन्योऽन्यस्य पावनमन्योऽन्यपावनम् ।

भावार्थः—दशाननस्य पादयोः प्रणामपूर्वकं कृतमभ्यर्थनमस्वीकृत्य पाति-व्रत्यधर्मस्य दृढनिष्ठया विश्ववन्द्यं वैदेहीचरणद्वयं श्रीरामानुसरणेन जटायुक्तो भरतस्य मस्तकश्चेति द्वयं मिलित्वा परस्परशोधकं सञ्जातमिति भावः ।

भाषार्थ—सीताजी के जिन पवित्र चरणों ने रावण की प्रणय-प्रार्थना को दृढ़तापूर्वक ठुकरा दिया था, उन पर जब भरतजी ने बड़े भाई की भक्ति के कारण बढ़ी हुई जटावाला अपना मस्तक रखा, तब इन दोनों ने परस्पर मिलकर एक दूसरे को पवित्र कर दिया ॥७८॥

क्रोशार्धं प्रकृतिपुरःसरेण गत्वा काकुत्स्थः स्तिमितजवेन पुष्पकेण ।
शत्रुघ्नप्रतिविहितोपकार्यमार्यः साकेतोपवनमुदारमध्युवास ॥७९॥

अन्वयः—आर्यः काकुत्स्थः प्रकृतिपुरःसरेण स्तिमितजवेन पुष्पकेण क्रोशार्धं गत्वा शत्रुघ्नप्रतिविहितोपकार्यम् उदारं साकेतोपवनम् अध्युवास ।

सञ्जी०—आर्यः पूज्यः काकुत्स्थो रामः प्रकृतयः प्रजाः पुरःसर्यो यस्य तेन स्तिमितजवेन मन्दवेगेन पुष्पकेण क्रोशोऽध्वपरिमाणविशेषः। क्रोशार्धं क्रोशैकदेशं गत्वा शत्रुघ्नेन प्रतिविहिताः सज्जिता उपकार्याः पटभवनानि यस्मिंस्तदुदारं महत्साकेतस्यायोध्याया उपवनमध्युवासाधितस्थौ। 'साकेतः स्यादयोध्यायां कोसलानन्दिनी तथा' इति यादवः।

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचिया सञ्जीविनीसमाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये दण्डकारण्यप्रत्यागमनो नाम त्रयोदशः सर्गः।

व्याख्या—आर्यः=पूज्यः काकुत्स्थः=ककुत्स्थवंशोत्पन्नः रामः। प्रकृतिपुरस्सरेण=प्रजाग्रसरेण। स्तिमितजवेन=मन्दवेगेन पुष्पकेण=पुष्पकविमानेन। क्रोशार्धं=क्रोशार्धभागम्। गत्वा=प्राप्य। शत्रुघ्नप्रतिविहितोपकार्यं=शत्रुघ्नसज्जितपटभवनम्। उदारं=महत्। साकेतोपवनम्=अयोध्यारामम्। अध्युवास=अधितस्थौ।

समासः—ककुत्स्थस्य गोत्रापत्यं पुमान् काकुत्स्थः। पुरःसरन्तीति पुरःसराः प्रकृतयः पुरस्सरा यस्य तत् प्रकृतिपुरःसरं तेन प्रकृतिपुरस्सरेण। स्तिमितो जवो यस्य तत् स्तिमितजवं तेन स्तिमितजवेन। शत्रुघ्नेन प्रतिविहिता उपकार्याः यस्मिन् तत् शत्रुघ्नप्रतिविहितोपकार्यम्। साकेतस्योपवनं साकेतवनं तत् साकेतोपवनम्। क्रोशस्य अर्द्धं क्रोशार्द्धं तत् क्रोशार्द्धम्।

भावार्थः—महापुरुषः श्रीरामः अग्रेऽग्रे व्रजतां प्रजाजनानां पृष्ठतो मन्दगतिना पुष्पकविमानेन क्रोशार्धं गत्वा शत्रुघ्नद्वारा सज्जितपटभवनोपेतमयोध्याया रमणीयविशालमुपवनमध्युवासेति भावः।

इति कविवरकालिदासकृते रघुवंशमहाकाव्ये पण्डितश्रीकृष्णमणित्रिपाठिना कृतायां विमलाख्यायां व्याख्यायां त्रयोदशः सर्गः समाप्तः।

भाषार्थ—आगे-आगे अयोध्या की जनता चल रही थी और पीछे-पीछे वह पुष्पक विमान चल रहा था जिस पर राम बैठे हुए थे। इस प्रकार आधा कोश चलकर राम ने अयोध्या के उस सुन्दर उपवन में निवास किया, जिसे शत्रुघ्नजी ने पहले ही भाँली-भति सजा दिया था ॥७९॥

इस प्रकार त्रिपाठ्युपाह्व पं० श्रीकृष्णमणिशास्त्री द्वारा लिखित अन्वय और 'चन्द्रकला' नाम की हिन्दी टीका में रघुवंश महाकाव्य का दण्डकवन से प्रत्यागमन नामक त्रयोदश सर्ग समाप्त हुआ।

श्लोकानुक्रमणिका

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

९

महाकविकालिदासविरचितं

रघुवंशम्

मल्लिनाथकृत-सञ्जीविनी-व्याख्या-समलङ्कृतम्

तथैव च

'विमला'-'चन्द्रकला'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

(चतुर्दशसर्गात्मकम्)

व्याख्याकारः—

डॉ० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी

भू० पू० प्राध्यापक एवं अध्यक्ष

पुराणेतिहास, संस्कृति, भूगोल विभाग

श्रीसम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वा रा ण सी

प्रकाशक—
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के. ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन, पो० बा० १२९,
वाराणसी–२२१००१

द्वितीय संस्करण १९८०

मूल्य { १३वाँ सर्ग २–२५
{ १४वाँ सर्ग २–२५

अन्य प्राप्तिस्थान—
चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे),
पो० बा० नं० ६९, वाराणसी–२२१००१

मुद्रक :—
श्रीजी मुद्रणालय
वारांणसी

कथासार

(चतुर्दश सर्ग)

अयोध्या के उपवन में विश्राम करने के बाद राम और लक्ष्मण ने आश्रय वृक्ष के भग्न हो जाने पर मुरझाई हुई दो लताओं के समान अपने पति राजा दशरथ के स्वर्गवास से शोचनीय अवस्था को प्राप्त दोनों माताओं—कौशल्या तथा सुमित्रा को एक ही साथ देखा। क्रम के अनुसार प्रणाम करनेवाले उन दोनों पुत्रों की दोनों माताएँ आँसुओं से भरी आँखों से साफ-साफ नहीं देख पाईं, किन्तु केवल पुत्रस्पर्श के सुख के अनुभव से जान लिया। दोनों माताओं ने आनन्दजन्य शीतल आँसू एवं शोकजन्य गर्म आँसू को पोंछ कर दूर कर दिया। बाद उन्होंने राम एवं लःमण की देह को राक्षसों के प्रहार से हुए पुराने घावों को नये के समान दया से स्पर्श करती हुई क्षत्रियाणियों को अभीष्ट वीरमाता कहलाना अच्छा नहीं समझा। बाद में सीताजी ने पतिदेव को कष्ट देने वाली, शुभलक्षणों से रहित मैं सीता हूँ, इस प्रकार कहकर उन दोनों के चरणों पर गिरकर समान रूप से अभिवादन किया। इस पर उन्होंने कहा—कल्याणी! ˆठो, लक्ष्मण के साथ तुम्हारे पति राम ने तुम्हारे पवित्र चरित्र मे ही इस कठोर कष्ट को पार किया है।

इसके बाद बड़े समारोह के साथ वृद्ध मन्त्रियों ने गङ्गा आदि पवित्र तीर्थों से लाये गये जलों से श्रीराम का राज्याभिषेक किया। जिससे उनकी शोभा और बढ़ गयी। अनन्तर श्रीराम ने बाजा-गाजा के साथ नागरिकों को आनन्दित करते हुए राजधानो अयोध्या में प्रवेश किया और सुग्रीव आदि मित्रों को विविध सामग्रियों से सम्पन्न भवनों को देकर चित्रमात्र से अवशिष्ट पिता—राजा दशरथ के पूजागृह में आखों में अश्रु बहाते हुए प्रवेश करके कैकेयी को प्रणाम कर मीठे वचनों से उनकी लज्जा को दूर किया। अनन्तर अभि-नन्दन करने के लिए आये हुए अगस्त्य आदि मुनियों का सत्कार कर राम ने उनसे रावण के जन्म का वृत्तान्त श्रवण किया। एक पक्ष के बाद श्रीराम ने सीताजी के द्वारा सत्कार करा कर सुग्रीव, विभीषण आदि को विदाकर पुष्पक विमान को कुबेर के पास भेज दिया। और भाइयों के साथ धर्मपूर्वक न्यायपूर्ण शासन करते हुए राम ने प्रजाओं को सुख पहुँ-चाया। कुछ दिनों के बाद सीताजी को गर्भ रह गया, श्रीराम ने गर्भिणी मनोरथ के लिए उनसे जब पूछा, तब उन्होंने गङ्गातटवर्ती तपोवनों को देखने की इच्छा प्रगट की। उसी समय गुप्तचरों के द्वारा सीता के विषय में लोकापवाद सुनकर राम ने उस लोकापवाद को दूर करने के विचार से लक्ष्मण के द्वारा वाल्मीकि मुनि के आश्रम के पास सीता को छोड़ आने की आज्ञा दे दी। तदनुसार लक्ष्मण ने सीताजी को रथ पर बैठा कर तपोवन देखने

के बहाने गङ्गा के तट पर ले जाकर उतार दिया और बड़े दुःख से श्रीराम का आदेश सुना दिया, जिसे सुनते ही सीताजी मूर्च्छित हो गयीं। लक्ष्मण के प्रयास से होश में आने पर सीता ने विना अपराध के परित्याग करनेवाले श्रीराम को दोष नहीं दिया, अपितु वे अपने भाग्य को ही कोसने लगीं। बाद लक्ष्मण ने दुःख से उनके चरणों पर गिरकर कहा—आर्ये! मुझे क्षमा कीजिए मैं पराधीन हूँ। सीता ने उनको उठा कर आशीर्वाद देते हुए कहा—लक्ष्मण! उठो, तुम्हारा कल्याण हो, मेरी सासुओं से मेरा प्रणाम कहना और उनके पुत्र के द्वारा निहित मेरे गर्भ का शुभचिन्तन करने को कह देना। और बड़े भाई से मेरा यह वचन भी कहना—राजन् साधारण प्रजा के समान मेरा भी पालन करना आपका धर्म है। लङ्का में सबके सामने प्रत्यक्ष अग्नि में विशुद्ध होने पर भी आपने मुझे मिथ्या लोकापवाद के भय से छोड़ दिया है, क्या यह आपके पावन-कुल के योग्य है? मालूम पड़ता है कि राज्यलक्ष्मी का परित्याग कर आप मेरे साथ वन को चले गये थे, उसी से नाराज होकर उसने राजभवन में मेरा रहना सहन नहीं किया है। अब मैं सूर्य में दृष्टि लगा कर तप करूँगी कि अगले जन्म में भी आप ही मेरे पति देव हों। सीता के वचन को स्वीकार कर लक्ष्मण के चले जाने पर दुःख के कारण सीता कुररी पक्षी के समान विलाप करने लगी, जिससे समस्त वन करुणामय हो गया—मोरों ने नाचना, पेड़ों ने पुष्प तथा हरिणों ने चबाते हुए कुशों को छोड़ दिया। कुश और समिधा को लेने के लिए आश्रम से बाहर निकले हुए वाल्मीकि मुनि रोने के शब्द का अनुसरण करते हुए सीता के सम्मुख आकर बोले—वत्से! मैं समाधि दृष्टि से जानता हूँ कि राम ने मिथ्यापवाद से क्षुब्ध होकर तुम्हारा त्याग किया है। तुम दूसरे देश में स्थित पिता के ही घर में आ गयी हो, तुम्हारे श्वसुर दशरथ मेरे मित्र थे तथा तुम्हारे पिता जनक सबको ज्ञान देने वाले हैं और तुम पतिव्रताओं में अग्रगण्य हो। तपस्वियों से शान्त इस तपोवन में रहो, तुम्हारी सन्तति का संस्कार-कर्म विधिवत् हो जायेगा। शोक को दूर करनेवाली तमसा में स्नान कर देवपूजन करती हुई मुनि कुमारियों के साथ रहो। इस प्रकार आश्वासन देकर अपने आश्रम पर सीता को ले जाकर तपस्विनियों के साथ एक पर्णकुटी में आश्रय दिया। वहाँ वे मुनि कुमारियों के साथ रहकर नियम से समय बिताने लगीं।

इधर लक्ष्मण श्रीराम के पास आकर सारा समाचार कह सुनाये, जिसे सुनकर श्रीराम के नेत्रों से आँसू गिरने लगे, क्योंकि उन्होंने तो सीता को घर से निकाला था, हृदय से नहीं।

अनन्तर वे शोक हटा कर प्रजाओं का पालन करने लगे। उन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया, बल्कि अश्वमेध-यज्ञ में स्वर्णमयी सीता की मूर्ति बनाकर उसे सम्पन्न किया। यह सुनकर सीताजी ने परित्याग दुःख को किसी प्रकार सहन किया।

॥ श्रीः ॥

रघुवंशमहाकाव्यम्

'विमला' सामान्य संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

चतुर्दशः सर्गः

भर्तुः प्रणाशादथ शोचनीयं दशान्तरं तत्र समं प्रपन्ने ।
अपश्यतां दाशरथी जनन्यौ छेदादिवोपघ्नतरोर्व्रतत्यौ ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ दाशरथी उपघ्नतरोः छेदात् व्रतत्यौ इव भर्तुः प्रणाशात् शोचनीयं दशान्तरं प्रपन्ने जनन्यौ यत्र समम् अपश्यताम् ।

संजीवनं मैथिलकन्यकायाः सौन्दर्यसर्वस्वमहानिधानम् ।
शशाङ्कपङ्केरुहयोः समानं रामस्य वन्दे रमणीयमास्यम् ।

सञ्जीविनी—अथोपवनाधिष्ठानानन्तरं दाशरथी रामलक्ष्मणौ उपघ्नतरोराश्रयवृक्षस्य । 'उपघ्न आश्रये' इति निपातः । तस्य छेदाद् व्रतत्यौ लते इव । 'वल्ली तु व्रततिर्लता' इत्यमरः । भर्तुर्दशरथस्य प्रणाशाच्छोचनीयं दशान्तरमवस्थान्तरम् । 'अवस्थायां वस्त्रान्ते स्याद्दशापि' इति विश्वः । प्रपन्ने प्राप्ते जनन्यौ कौसल्यासुमित्रे तत्र साकेतोपवने समं युगपदपश्यताम् । दृशेः कर्तरि लङ् ।

व्याख्या—अथ = अयोध्योपवनाधिष्ठानानन्तरम् । दाशरथी=दाशरथनन्दनौ, रामलक्ष्मणौ । उपघ्नतरोः=आश्रयवृक्षस्य । छेदात्=छेदनात्, कर्तनात् व्रतत्यौ इव=लते इव । भर्तुः = पत्युः, दशरथस्य । प्रणाशात्=निधनात् । शोचनीयं= विशादार्हम् । दशान्तरं=अवस्थान्तरम् । प्रपन्ने=प्राप्ते ।जनन्यौ=मातरौ, कौशल्यासुमित्रे । तत्र=साकेतोपवने । समं=युगपत् । अपश्यतां=व्यलोकयताम् ।

समासः—शोचितुं योग्यं शोचनीयम्, तत् शोचनीयम् । अन्या दशा दशान्तरम्, तत् दशान्तरम् । दशरथस्यापत्ये पुमांसौ दाशरथी । उपहन्यते सामीप्येन गम्यते इत्युपघ्नः उपघ्नश्चासौ तरुश्चेति उपघ्नतरुः तस्य उपघ्नतरोः । बिभर्तीति भर्ता तस्य भर्तुः ।

भावार्थः—अयोध्योपवने गमनानन्तरं श्रीरामलक्ष्मणौ राज्ञो दशरथस्य निधनानन्तरं मलिने वसने वसाने अन्यामेव दशामुपगते कौशल्यासुमित्रे आश्रयवृक्षस्योच्छेदादाधाररहिते परं तदाश्रिते विश्लथे लते इव युगपत् दृष्टवन्तौ इति भावः।

भाषार्थ—इसके बाद उस उपवन में राम और लक्ष्मण जो अपनी माताओं से मिले, जो उसी प्रकार उदास लग रही थीं, जिस प्रकार वृक्ष के कट जाने पर उसके सहारे चढ़ी हुई लताएँ मुरझा जाती हैं ॥ १ ॥

उभावुभाभ्यां प्रणतौ हतारी यथाक्रमं विक्रमशोभिनौ तौ।
विस्पष्टमस्त्रान्धतया न दृष्टौ ज्ञातौ सुतस्पर्शसुखोपलम्भात् ॥ २ ॥

अन्वयः— यथाक्रमं प्रणतौ हतारी विक्रमशोभिनौ तौ उभौ उभाभ्यां अस्रान्धतया विस्पष्टं न दृष्टौ (किन्तु) सुतस्पर्शसुखोपलम्भात् ज्ञातौ।

सञ्जी०—यथाक्रमं स्व-स्वमातृपूर्वकं प्रणतौ नमस्कृतवन्तौ हतारी हतशत्रुकौ विक्रमशोभिनौ तावुभौ रामलक्ष्मणावुभाभ्यां मातृभ्यामस्रैरश्रुभिरन्धतया हेतुना। 'अस्रमश्रु च शोणितम्' इति यादवः। विस्पष्टं न दृष्टौ किन्तु सुतस्पर्शेन यत्सुखं तस्योपलम्भादनुभवाज्ज्ञातौ।

व्याख्या—यथाक्रमं=क्रमानुसारम्, स्वस्वमातृपूर्वकम्। प्रणतौ=कृतप्रणामौ। हतारी=कृतशत्रुनाशौ। विक्रमशोभिनौ = पराक्रमशोभिनौ। तौ पूर्वोक्तौ, उभौ= द्वौ रामलक्ष्मणौ। उभाभ्यां=द्वाभ्याम्, कौशल्यासुमित्राभ्यां मातृभ्याम्। अस्रान्धतया = अश्रुभिः द्रष्टुमशक्यतया। विस्पष्टं = सुव्यक्तम्। न दृष्टौ नावलोकितौ, किन्तु सुतस्पर्शसुखोपलम्भात् = पुत्रदर्शनानन्दानुभवात्। ज्ञातौ = विदितौ।

समासः—क्रममनतिक्रम्य यथाक्रमम्। हता अरयो याभ्यां तौ हतारी। विक्रमेण शोभेते इति विक्रमशोभिनौ। अन्धयोर्भावः अन्धता अस्रैः अन्धता अस्रान्धता तया अस्रान्धतया। सुतस्य स्पर्शः सुतस्पर्शः सुतस्पर्शस्य सुखं सुतस्पर्शसुखं सुतस्पर्शसुखस्योपलम्भः सुतस्पर्शसुखोपलम्भः तस्मात् सुतस्पर्शसुखोपलम्भात्।

भावार्थः—कौशल्यासुमित्रे, प्रथमं मातरं प्रणम्य अनन्तरं विमातरमिति रीत्या नमस्कृतवन्तौ शत्रुघातनौ रामलक्ष्मणौ नेत्रयोरश्रुप्रवाहात् व्यक्तं न ददृशतुः किन्तु स्पर्शसुखानुभवादेवाववोधताम्।

भाषार्थ—अपने शत्रुओं का नाश करनेवाले पराक्रमी राम और लक्ष्मण ने बारी-बारी से उन दोनों माताओं को प्रणाम किया, अपने पुत्रों को देखते ही दोनों माताओं की आँखों में आँसू छलछला आये। इसलिए वे आँखभर उन्हें

देख भी नहीं सकीं, पर पुत्रों के स्पर्श से सुख प्राप्त होने से वे उन्हें पहचान गयीं ॥ २ ॥

आनन्दजः शोकजमश्रुवाष्पस्तयोरशीतं शिशिरो बिभेद ।
गङ्गासरय्वोर्जलमुष्णतप्तं हिमाद्रिनिस्यन्द इवावतीर्णः ॥ ३ ॥

अन्वयः—तयोः आनन्दजः शिशिरः वाष्पः शोकं अशीतं अश्रु उष्णतप्तं गङ्गासरय्वोः जलम् अवतीर्णः हिमाद्रिनिस्यन्दः इव बिभेद ।

सञ्जी०—तयोर्मात्रोरानन्दजः शिशिरो शीतलः वाष्पः शोकजमशीतमुष्णमश्रु उष्णतप्तं ग्रीष्मतप्तं गङ्गासरय्वोर्जलं, कर्म अवतीर्णो हिमाद्रेर्निस्यन्दो निर्झर इव बिभेद । आनन्देन शोकस्तिरस्कृत इत्यर्थः ।

व्याख्या—तयोः=मात्रोः कौशल्यासुमित्रयोः । आनन्दजः=हर्षोत्पन्नः । अत एव शिशिरः=शीतलः । बाष्पः=अश्रु । शोकजं=शोकोत्पन्नम् । अत एव अशीतं = उष्णम् । अश्रु = वाष्पम् । उष्णतप्तं = ग्रीष्मतप्तम् । गङ्गासरय्वोः = भागीरथीसरयूनद्योः जलं = तोयम् । अवतीर्णः = प्रविष्टः । हिमाद्रिनिस्यन्द इव= हिमालयनिर्झर इव बिभेद=विददार ।

समासः—आनन्दाज्जातः आनन्दजः । न शीतमशीतं तत् अशीतम् । गङ्गा च सरयूश्च गङ्गासरय्वौ तयोः गङ्गासरय्वोः । उष्णेन तप्तम् उष्णतप्तम्, तत् उष्णतप्तम् । हिमस्याद्रिः हिमाद्रिः, हिमाद्रेः निस्यन्दः हिमाद्रिनिस्यन्दः ।

भावार्थः—यथा वर्षतौ हिमाचलस्य शीतलः प्रवाहः ग्रीष्मसन्तप्तं गङ्गासरयूजलं प्रविश्य शीतलयति तथैव कौशल्यासुमित्रयोः श्रीरामलक्ष्मणागमनहर्षोत्पन्नं शीतलमश्रुजलं पतिनिधनशोकोत्पन्नमुष्णमश्रुजलं शीतलं चकारेति भावः ।

भाषार्थ—जैसे गर्मी के दिनों में हिमालय का शीतलजल गंगा और सरयू के गर्म जल को ठण्डा कर देता है वैसे ही उन कौशल्या और सुमित्रा दोनों की आँखों से बहे हुए आनन्द के शीतल आँसुओं ने शोक के उष्ण आँसुओं को ठण्डा कर दिया ॥ ३ ॥

ते पुत्रयोर्नैर्ऋतशस्त्रमार्गानार्द्रानिवाङ्गे सदयं स्पृशन्त्यौ ।
अपीप्सितं क्षत्रकुलाङ्गनानां न वीरसूशब्दमकामयेताम् ॥ ४ ॥

अन्वयः—ते पुत्रयोः अङ्गे नैर्ऋतशस्त्रमार्गान् आर्द्रान् सदयं स्पृशन्त्यौ क्षत्रकुलाङ्गनानाम् ईप्सितं अपि वीरसूशब्दं न अकामयेताम् ।

सञ्जी०—ते मातरौ पुत्रयोरङ्गे शरीरे नैर्ऋतशस्त्राणां राक्षसशस्त्राणां मार्गान्

व्रणान् शस्त्रघातकिणानार्द्रान् सरसानिव सदयं स्पृशन्त्यौ क्षत्रकुलाङ्गनानामीप्सितमिष्टमपि वीरसूर्वीरमातेति शब्दं नाकामयेताम्। वीरप्रसवो दुःखहेतुरिति भावः।

व्याख्या—ते=मातरौ, कौशल्यासुमित्रे। पुत्रयोः=सुतयोः रामलक्ष्मणयोः अङ्गे=शरीरे। नैर्ऋतशस्त्रमार्गान् = राक्षसायुधव्रणान्। आर्द्रानिव = सरसानिव। सदयं = दयापूर्वकम् स्पृशन्त्यौ = अभिमृश्यन्त्यौ। क्षत्रकुलाङ्गनानां = क्षत्रियवंशसीमन्तिनीनाम्। ईप्सितमपि=अभीष्टमपि। वीरसूशब्दं=वीरजननीति पदम्। न अकामयेतां=नैच्छताम्, नाभ्यलषताम्।

समासः—नैर्ऋतानां शस्त्राणि नैर्ऋतशस्त्राणि नैर्ऋतशस्त्राणां मार्गाः नैर्ऋतशस्त्रमार्गाः तान् नैर्ऋतशस्त्रमार्गान्। क्षत्राणां कुलाङ्गनाः क्षत्रकुलाङ्गनाः तासां क्षत्रकुलाङ्गनानाम्। वीरान् सुनोतीति वीरसूः 'वीरसू' इतिशब्दः वीरसूशब्दः तम् वीरसूशब्दम्।

भावार्थः—कौशल्यासुमित्रे सुतयोः रामलक्ष्मणयोः शरीरे राक्षसबाणप्रहारान् पुरातनानप्यचिरमेव जातानिव मत्वा दयया स्पृशन्त्यौ क्षत्रियाङ्गनानामभीष्टमपि वीरजननीति पदं नैच्छताम्।

भाषार्थ—पुत्रों के शरीर के जिन अङ्गों पर राक्षसों के शस्त्रों के घाव बने थे वहाँ वे दोनों माताएँ इस प्रकार सहलाने लगीं, मानों घाव अभी ताजा ही हो, उस समय अपने पुत्रों के घावों को देखकर वे इतनी व्याकुल हो गयीं कि उन्हें (क्षत्रियकुलवधुओं को अभिलषित) वीर पुत्र की माता कहलाना भी अच्छा नहीं लगा ॥ ४ ॥

क्लेशावहा भर्तुरलक्षणाऽहं सीतेति नाम स्वमुदीरयन्ती।
स्वर्गप्रतिष्ठस्य गुरोर्महिष्यावभक्तिभेदेन वधूर्ववन्दे ॥ ५ ॥

अन्वयः—भर्तुः क्लेशावहा (अत एव) अलक्षणा अहं सीता इति स्वं नाम उदीरयन्ती स्वर्गप्रतिष्ठस्य गुरोः महिष्यौ वधूः अभक्तिभेदेन ववन्दे।

सञ्जी०—आवहतीत्यावहा भर्तुः क्लेशावहा क्लेशकारिणी अत एवालक्षणाऽहं सीतेति स्वं नामोदीरयन्ती। स्वर्गः प्रतिष्ठास्पदं यस्य तस्य स्वर्गस्थितस्य गुरोः श्वशुरस्य महिष्यौ श्वश्र्वौ। 'वधूः स्नुषा वधूर्जाया स्नुषा' इत्यमरः। अभक्तिभेदेन ववन्दे। स्वर्गप्रतिष्ठस्येत्यनेन श्वश्रूवैधव्यदर्शनदुःखं सूचितम्।

व्याख्या—भर्तुः=पत्युः, भवत्योश्चिरजीविनो रामस्य। क्लेशावहा = कष्टदायिनी। अत एव अलक्षणा = शुभलक्षणरहिता। अहं = सीता जानकी अस्मि। इति=एवं स्वं=निजं नाम = अभिधेयम्। उदीरयन्ती = उच्चारयन्ती। वधूः=

स्नुषा, सीता। स्वर्गप्रतिष्ठस्य = सुरलोकवासिनः। गुरोः = पूज्यस्य, श्वशुरस्य दशरथस्य महिष्यौ=राज्ञौ श्वश्र्वौ, कौशिल्यासुमित्रे। अभक्तिभेदेन=भक्तिभेदं विना, तुल्यया भक्त्या। ववन्दे=अभिवादयामास, प्रणनाम।

समासः—आवहतीति आवहा क्लेशस्य आवहा इति क्लेशावहा। न विद्यन्ते लक्षणानि शुभानि यस्याः सा अलक्षणा। स्वर्गः प्रतिष्ठा यद्वा स्वर्गो प्रतिष्ठा यस्य सः स्वर्गप्रतिष्ठः तस्य स्वर्गप्रतिष्ठस्य। भक्तेर्भक्तौ वा भेदः भक्तिभेदः न भक्तिभेदः अभक्तिभेदः तेनाभक्तिभेदेन।

भावार्थः—पत्युः कष्टदायिनी अशुभलक्षणा अहं सीताऽस्मीति निजं नाम गृह्णन्ती स्वर्गवासिनः श्वशुरस्य उभे अपि महिष्यौ श्वश्र्वौ भेदभावं विनाऽभिवादयामासेति भावः।

भावार्थ—मैं ही पति को कष्ट देनेवाली कुलक्षणा सीता हूँ, यह कहती हुई सीताजी ने एक सी भक्ति से स्वर्गवासी श्वशुर की दोनों रानियों का चरण छूकर प्रणाम किया ॥ ५ ॥

उत्तिष्ठ वत्से ! ननु सानुजोऽसौ वृत्तेन भर्ता शुचिना तवैव।
कृच्छ्रं महत्तीर्ण इति प्रियार्हां तामूचतुस्ते प्रियमप्यमिथ्या ॥ ६ ॥

अन्वयः—ननु हे वत्से ! उत्तिष्ठ असौ सानुजः भर्ता तव एव शुचिना वृत्तेन महत् कृच्छ्रं तीर्णः इति प्रियार्हां तां प्रियम् अपि अमिथ्या ते ऊचतुः।

सञ्जी०—ननु 'वत्से ! उत्तिष्ठ। असौ सानुजो भर्ता तवैव शुचिना वृत्तेन महत्कृच्छ्रं दुःखं तीर्णस्तीर्णवान्।' इति प्रियार्हां तां वधूं प्रियमप्यमिथ्या सत्यं ते श्वश्र्वावूचतुः। उभयं दुर्वचमिति भावः।

व्याख्या—ननु वत्से ! अयि जाते ! उत्तिष्ठ=उत्थिता भव। असौ=अयम्। सानुजः=सहावरजः, सलक्ष्मणः। भर्ता = त्वत्पतिः, रामः। तवैव=भवत्या एव शुचिना=पवित्रेण। वृत्तेन = चरित्रेण, पातिव्रत्येन। महत् = दुःसहम्। कृच्छ्रं= दुःखम्। तीर्णः = तीर्तवान्। इति = इत्थम्। ते = श्वश्र्वौ, कौशल्यासुमित्रे। प्रियार्हां = प्रियवचनयोग्याम्। तां=वधूम्, स्नुषां सीताम्। प्रियमपि=अभीष्टमपि। अमिथ्या = सत्यं वचनम्। ऊचतुः=जगदतुः।

समासः—अनु पश्चात् जातः अनुजः अनुजेन सह वर्तते इति सानुजः। अर्हतीत्यर्हा प्रियस्य अर्हा प्रियार्हा यद्वा प्रियमर्हतीति प्रियार्हा तां प्रियार्हाम्। न मिथ्या अमिथ्या।

भावार्थः—अयि कल्याणि सीते ! उत्तिष्ठ, तवैव सुचरितस्य पातिव्रत्यस्य च

प्रभावात् एष सलक्ष्मणः त्वत्पतिः श्रीरामः दुःसहं दुःखसङ्कटं तीर्णं इति श्वश्र्वौ कौशल्यासुमित्रे मधुरभाषणार्हां वधूं सीतां सुनृतं वचनमुक्त्वाऽभिनन्दयामासतुरिति भावः ।

भाषार्थ—उन दोनों माताओं ने स्नेह करने योग्य सीताजी को उठाते हुए प्रिय और सच्ची बात कही—'बेटी ! उठो, तेरे ही पवित्र पातिव्रत्य के प्रभाव से राम और लक्ष्मण इस बड़े संकट से पार हुए हैं' ॥ ६ ॥

अथाभिषेकं रघुवंशकेतोः प्रारब्धमानन्दजलैर्जनन्योः ।
निर्वर्तयामासुरमात्यवृद्धास्तीर्थाहृतैः काञ्चनकुम्भतोयैः ॥ ७ ॥

अन्वयः—अथ जनन्योः आनन्दजलैः प्रारब्धं रघुवंशकेतोः अभिषेकं अमात्यवृद्धाः तीर्थाहृतैः काञ्चनकुम्भतोयैः निर्वर्तयामासुः ।

सञ्जी०—अथ जनन्योरानन्दजलैरानन्दबाष्पैः प्रारब्धं प्रक्रान्तं रघुवंशकेतो रामस्याभिषेकममात्यवृद्धास्तीर्थेभ्यो गङ्गाप्रमुखेभ्य आहृतैरानीतैः काञ्चनकुम्भतोयै निर्वर्तयामासुर्निष्पादयामासुः ।

व्याख्या—अथ=अनन्तरम् । जनन्योः=मात्रोः कौशल्यासुमित्रयोः । आनन्दजलैः=हर्षाश्रुभिः । प्रारब्धं=प्रक्रान्तम् । रघुवंशकेतोः = रघुकुलश्रेष्ठस्य श्रीरामस्य । अभिषेकं = राज्याभिषेकम् । अमात्यवृद्धाः = स्थविरसचिवाः, वृद्धमन्त्रिणः । तीर्थाहृतैः = गङ्गादितीर्थानीतैः । काञ्चनकुम्भतोयैः = कनककलशजलैः । निवर्तयामासुः=निष्पादयामासुः ।

समासः—आनन्दस्य जलानि आनन्दजलानि तैः आनन्दजलैः । रघोः वंशो रघुवंशः रघुवंशस्य केतुः रघुवंशकेतुः तस्य रघुवंशकेतोः । अमात्याश्च ते वृद्धा अमात्यवृद्धाः । तीर्थेभ्यः आहृतानि तीर्थाहृतानि तैः तीर्थाहृतैः । काञ्चनस्य कुम्भाः काञ्चनकुम्भाः काञ्चनकुम्भानां तोयानि काञ्चनकुम्भतोयानि तैः काञ्चनकुम्भतोयैः ।

भावार्थः—अनन्तरं जनन्योः कौशल्यासुमित्रयोः हर्षाश्रुजलैः प्रारब्धं रघुवंशशिरोमणेः श्रीरामस्य राज्याभिषेकं स्थविरसचिवाः गङ्गायमुनादितीर्थेभ्यः समानीतैः जलैः सानन्दं सम्पादयामासुरिति भावः ।

भाषार्थ—इसके बाद जिस राज्याभिषेक का आरम्भ माताओं के हर्ष के आँसुओं से हुआ था, उसको सुवर्ण के घड़ों में भरे तीर्थों से लाये हुए जल से राम को नहलाकर वृद्ध मन्त्रियों ने पूरा किया ॥ ७ ॥

सरित्समुद्रान्सरसीश्च गत्वा रक्षःकपीन्द्रैरुपपादितानि ।
तस्यापतन्मूर्ध्नि जलानि जिष्णोर्विन्ध्यस्य मेघप्रभवा इवापः ॥ ८ ॥

अन्वयः—रक्षः कपीन्द्रैः सरित्समुद्रान् सरसीः च गत्वा उपपादितानि जलानि जिष्णोः तस्य मूर्ध्नि विन्ध्यस्य मूर्ध्नि मेघप्रभवा आप इव अपतन्।

सञ्जी०—रक्षःकपीन्द्रैः सरितो गङ्गाद्याः समुद्रान्पूर्वादीन्सरसीर्मानसादींश्च गत्वा उपपादितान्युपनीतानि जलानि जिष्णोर्जयशीलस्य। 'ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः" इति ग्स्नुप्रत्ययः। तस्य रामस्य मूर्ध्नि विन्ध्यस्य विन्ध्याद्रेर्मूर्ध्नि मेघप्रभवा आप उदकानीव अपतन्।

व्याख्या—रक्षाःकपीन्द्रैः=राक्षसवानरश्रेष्ठैः। सरित्समुद्रान् = नदीसागरान्। सरसीः=सरोवरादींश्च गत्वा = उपेत्य। उपपादितानि = उपनीतानि। जलानि= तोयानि। जिष्णोः=जयशीलस्य। तस्य = दाशरथेः श्रीरामस्य। मूर्ध्नि=शिरसि। विन्ध्यस्य = विन्ध्यपर्वतस्य मूर्ध्नि = शिखरे मेघप्रभावाः = जलदजाः। आपः = तोयानि इव अपतन् = अवर्षन् पातितानि।

समासः—सरितश्च समुद्रश्च सरित्समुद्राः तान् सरित्समुद्रान्। कपीनामिन्द्राः कपीन्द्रा रक्षांसि च कपीन्द्राश्चेति रक्षःकपीन्द्राः यद्वा रक्षांसि च कपयश्चेति रक्षः-कपयः रक्षःकपीनामिन्द्राः रक्षःकपीन्द्राः तैः रक्षःकपीन्द्रैः। मेघः प्रभवः यासां ता मेघप्रभवाः।

भावार्थः—विभीषणानुचराः श्रेष्ठराक्षसाः सुग्रीवाज्ञाकारिणो वानरभटाश्च गङ्गासागरमानसरोवरादिभ्यः उपनीतानि पवित्रतमजलानि विजयिनो रामस्य मस्तके विन्ध्यपर्वतस्य मूर्ध्नि = शिखरे जलदा इवाभ्यवर्षन् इति भावः।

भाषार्थ—राक्षस और वानरों के नायकों ने नदियों, समुद्रों एवं सरोवर से जो जल लाकर दिया,वह अभिषेक के समय में राम के शिर पर वैसे ही बरस रहा था जैसे विन्ध्याचल के शिखर पर बादलों का लाया हुआ जल बरसा करता है ॥८॥

तपस्विवेषक्रिययाऽपि तावद्यः प्रेक्षणीयः सुतरां बभूव।
राजेन्द्रनेपथ्यविधानशोभा तस्योदिताऽऽसीत्पुनरुक्तदोषा ॥ ९ ॥

अन्वयः—यः तपस्विवेषक्रियया अपि सुतरां प्रेक्षणीयः बभूव तस्य उदिता राजेन्द्रनेपथ्यविधानशोभा पुनरुक्तदोषा आसीत्।

सञ्जी०—यो रामस्तपस्विवेषक्रिययाऽपि तपस्विवेषरचनयाऽपि सुतरामत्यन्तं प्रेक्षणीयस्तावद्दर्शनीय एव बभूव। तस्य राजेन्द्रनेपथ्यविधानेन राजवेषरचनयोदिता या शोभा सा पुनरुक्तं नाम दोषो यस्याः सा पुनरुक्तदोषा द्विगुणाऽऽसीत्।

व्याख्या—यः=रामः। तपस्विवेषक्रियया=तापसनेपथ्यरचनया अपि सुतरां= नितराम्। प्रेक्षणीयः=दर्शनीयः। तावत् एव। बभूव= संववृते। तस्य =

श्रीरामस्य । राजेन्द्रनेपथ्यविधानशोभा = नृपवेषरचनाकान्तिः । पुनरुक्तदोषा = द्विगुणा । आसीत् = अभूत्, समवर्तत ।

समासः—तप एषामस्तीति तपस्विनः तपस्विनां वेषः तपस्विवेषः तपस्विवेषस्य क्रिया तपस्विवेषक्रिया तया तपस्विवेषक्रियया । प्रेक्षितुं योग्यः प्रेक्षणीयः । राज्ञामिन्द्रा राजेन्द्रा राजेन्द्राणां नेपथ्यं राजेन्द्रनेपथ्यं राजेन्द्रनेपथ्यस्य विधानं राजेन्द्रनेपथ्यविधानम् राजेन्द्रनेपथ्यविधानेन शोभा राजेन्द्रनेपथ्यविधानशोभा । पुनरुक्तमिति दोषो यस्याः सा पुनरुक्तदोषा ।

भावार्थः—यो हि रामः तपस्विवेषजटादिधारणेनापि सातिशयं दर्शनीय एवासीत्, स एव पुनः राजवेषरचनया द्विगुणतरो मनोहरो बभूव ; स्वाभाविकशोभावतो रामस्य राजमुकुटादिराजचिह्नधारण सिद्धसाधनमिवाभवदित्यर्थः ।

भावार्थ—जो राम तपस्वी के वेश में भी बहुत सुन्दर लगते थे, वे इस समय राजराजेश्वरों के योग्य राजसी वस्त्र पहनकर और भी सुन्दर लगने लगे ।। ९ ।।

स मौलरक्षोहरिभिः ससैन्यस्तूर्यस्वनानन्दितपौरवर्गः ।
विवेश सौधोद्गतलाजवर्षामुत्तोरणामन्वयराजधानीम् ॥ १० ॥

अन्वयः—सः ससैन्यः तूर्यस्वनानन्दितपौरवर्गः (सन्) मौलरक्षोहरिभिः सौधोद्गतलाजवर्षाम् उत्तोरणां अन्वयराजधानीं विवेश ।

सञ्जी०—स रामः ससैन्यस्तूर्यस्वनैरानन्दितपौरवर्गः सन् । मूले भवा मौलाः मन्त्रिवृद्धास्तै रक्षोभिर्हरिभिश्च सह सौधेभ्य उद्गतलाजवर्षामुत्तोरणामन्वयराजधानीमयोध्यां विवेश प्रविष्टवान् ।

व्याख्या—सः=श्रीरामः । ससैन्यः=सेनासहितः । तूर्यस्वनानन्दितपौरवर्गः= वाद्यशब्दहर्षितनागरिकसमूहः । मौलरक्षोहरिभिः = अमात्यवृद्ध-राक्षस-वानरैः । सह सौधोद्गतलाजवर्षाम् = सुधालिप्तराजसदनसंवृत्तलाजवृष्टिम् । उत्तोरणां = उन्नतवहिर्द्वारम् । अन्वयराजधानीं = रघुकुलराजधानीम् अयोध्यानगरीम् । विवेश = प्रविशत् ।

समासः मूले भवा मौलाः मौलाश्च रक्षांसि च हरयश्चेति मौलरक्षोहरयस्तैः मौलरक्षोहरिभिः । सैन्येन सह वर्तते इति ससैन्यः । तूर्यस्य तूर्याणां वा स्वनः तूर्यस्वनः । पुरे भवाः पौराः पौराणां वर्गः पौरावर्गः तूर्यस्वनेन आनन्दितः पौरवर्गः येन सः तूर्यस्वनानन्दितपौरवर्गः । लाजानां वर्षं लाजवर्षम् सौधेभ्य उद्गतं लाजवर्षं यस्यां सा सौधोद्गतलाजवर्षा तां सौधोद्गतलाजवर्षाम् । उच्छलितानि तोरणानि यस्यां सा उत्तोरणा ताम् उत्तोरणाम् ।

राजानो धीयन्तेऽस्यामिति राजधानी अन्वयस्य राजधानी अन्वयराजधानी ताम् अन्वयराजधानीम् ।

भावार्थः—साकेतोपवने तस्मिन् अभिषेकानन्तरं श्रीरामः वृद्धैः मन्त्रिभिः सपरिजनविभीषण-सुग्रीवादिभिश्च साकं तूर्यादिवाद्यैः अयोध्यावासिनो नागरिकान् नन्दयन् उत्सवदर्शनीयां रघुवंशराजधानीम् अयोध्यानगरीं प्रविवेश । तदानीं शोभा-यात्रावसरेऽयोध्यिकाः नागरिकाः महता हर्षोल्लासेन सुधालिप्ताट्टालिकागवाक्षेभ्यः श्रीरामोपरि लाजावृष्टीः प्रसूनप्रक्षेपं चाकार्षुः तथा तत्सम्मानप्रदर्शनार्थं स्व-स्व-भवनसमीपे कदलीस्तम्भाम्रपल्लवतोरणादिसज्जावितानं प्रदर्शयामासुरिति भावः ।

भाषार्थ—वृद्धमन्त्री राक्षस और वानरों के साथ राम ने अपनी सेना के साथ वंशपरम्परागत राजधानी अयोध्या में प्रवेश किया, जो चारों ओर बन्दनवारों से सजायी गयी थी, जहाँ के श्वेतभावनों से धान कीलाई बरस रही थी और जहाँ के निवासी तुरही आदि बाजों को सुन-सुनकर परम प्रसन्न हो रहे थे ॥ १० ॥

सौमित्रिणा सावरजेन मन्दमाधूतबालव्यजनो रथस्थः ।
धृतातपत्रो भरतेन साक्षादुपायसंघात इव प्रवृद्धः ॥ ११ ॥

अन्वयः—सावरजेन सौमित्रिणा मन्दमाधूतबालव्यजनः रथस्थः भरतेन धृतातपत्रः प्रवृद्धः साक्षात् उपायसंघात इव पुरं प्रविवेश ।

सञ्जी०—सावरजेन शत्रुघ्नयुक्तेन सौमित्रिणा लक्ष्मणेन मन्दमाधूते बाल-व्यजने चामरे यस्य स रथस्थो भरतेन धृतातपत्र एवं चतुर्व्यूहो रामः प्रवृद्धः साक्षादुपायानां सामादीनां सङ्घातः समष्टिरिव विवेशेति पूर्वेण सम्बन्धः ।

व्याख्या—सावरजेन=अनुजसहितेन शत्रुघ्नेन साकम् । सौमित्रिणा=सुमित्रा-तनयेन लक्ष्मणेन । मन्दं=मन्थरम् । आधूतबालव्यजनः=ईषदान्दोलितचामरः । रथस्थः=स्यन्दनस्थितः । भरतेन = कैकेयीनन्दनेन । धृतातपत्रः = गृहीतच्छत्रः इत्थं चतुर्व्यूहः रामः = रामचन्द्रः । प्रवृद्धः=समृद्धः । साक्षात्=मूर्तिमान् । उपायसङ्घात इव=सामादिसमूह इव, अन्वयराजधानीं विवेश ।

समासः—अवरं जातः अवरजः अवरजेन सह वर्तते इति सावरजः तेन सावरजेन । सुमित्राया अपत्यं पुमान् सौमित्रिः तेन सौमित्रिणा । बाले च व्यजने बालव्यजने आधूते बालव्यजने यस्य यस्मै वा स आधूतबालव्यजनः । रथे तिष्ठ-तीति रथस्थः । आतपात् त्रायते इति आतपत्रं धृतम् आतपत्रं येन स धृतातपत्रः । उपायानां संघात उपायसंघातः ।

भावार्थः—शत्रुघ्नलक्ष्मणौ पार्श्वयोः स्थितौ रथोपरि समुपविष्टं श्रीरामं मन्दं

मन्दं चामराभ्यां वीजयतः स्म, भरतश्च श्वेतच्छत्रं धृतवानासीत्। एवं भ्रातृत्रयेण सहित श्रीरामः राजोपयोगि सामादिसमूह इवान्वयराजधानीमयोध्यां प्राविशदिति भावः।

राजशास्त्रे चतुर्विधा उपाया उपदिष्टाः सन्ति। तेष्वन्तिमोऽगतिकगतिकः—

'उपायाः सामदानं च भेदो दण्डस्तथैव च।
सम्यक् प्रयुक्ताः सिध्येयुर्दण्डस्त्वगतिका गतिः॥'

भावार्थ—लक्ष्मण और शत्रुघ्न रथ पर बैठे हुए राम पर धीरे-धीरे चँवर डुला रहे थे और भरत अपने हाथ में छत्र लिये हुए थे। इस प्रकार जब राम ने अपने भाइयों के साथ अयोध्या में प्रवेश किया, तब चारों भाई ऐसे जान पड़ रहे थे मानो साम, दाम, दण्ड और भेद ये चारों उपाय इकट्ठे हो गये हों॥ ११॥

प्रासादकालगुरुधूमराजिस्तस्याः पुरो वायुवशेन भिन्ना।
वनान्निवृत्तेन रघूत्तमेन मुक्ता स्वयं वेणिरिवावभासे॥ १२॥

अन्वय—वायुवशेन भिन्ना प्रासादकालागुरुधूमराजिः वनात् निवृत्तेन रघूत्तमेन स्वयं मुक्ता तस्याः पुरः वेणिः इव आवभासे।

सञ्जी०—वायुवशेन भिन्ना प्रासादे यः कालागुरुधूमस्तस्य राजी रेखा वनान्निवृत्तेन रघूत्तमेन रामेण स्वयं मुक्ता तस्याः पुरः पुर्या वेणिरिव आबभासे। पुरोऽपि पतिव्रतासमाधिरुक्तः। 'न प्रोषिते तुं संस्कुर्यान्न वेणीं च प्रमोचयेत्' इति हारीतः।

व्याख्या—वायुवशेन = मारुताधीनतया। भिन्नाः = भेदं गता विस्तृताः। प्रासादकालागुरुधूमराजिः = राजसदनकृष्णागुरुधूमलेखा। वनात् = अरण्यात्। निवृत्तेन=अयोध्यायामागतेन। रघूत्तमेन = रघुवरेण रामेण। स्वयं = आत्मना। मुक्ता = कृतमोक्षा। तस्याः पुरः = अयोध्यानगर्याः। वेणिरिव = प्रोषितभर्तृका केशरचना इव। आबभासे=शुशुभे।

समासः—वायोः वशः वायुवशः तेन वायुवशेन। धूमानां राजिः धूमराजिः कालश्चासौ अगुरुः कालागुरुः कालागुरोः धूमराजिः कालागुरुधूमराजिः, प्रासादे कालागुरुधूमराजिरिति प्रासादकालागुरुधूमराजिः। रघुषूत्तमो रघूत्तमःतेन रघुत्तमेन।

भावार्थः—भगवतो रामस्य स्वागताभिनन्दनार्थमयोध्याराजभवने प्रज्वलितस्यागुरुधूमस्य पंक्तिः वायुगत्या यत्र तत्र प्रसार्यमाणा (विस्तृता) रामप्रवासे प्रवृद्धा अयोध्यारूपाया नायिकाया वेणिः वनवासात् प्रत्यगच्छता रामेणोन्मोचिता केशरचनेव शुशुभे इति भावः।

भाषार्थ—भवनों के ऊपर वायु से छितराया हुआ काले अगर का धूँआ

ऐसा लग रहा था, मानो बन से लौटकर राम ने अयोध्या नगरी का जूड़ा खोल दिया हो ॥ १२ ॥

श्वश्रूजनानुष्ठितचारुवेषां कर्णीरथस्थां रघुवीरपत्नीम् ।
प्रासादवातायनदृश्यबन्धैः साकेतनार्योऽञ्जलिभिः प्रणेमुः ॥ १३ ॥

अन्वयः—श्वश्रूजनानुष्ठितचारुवेषां कर्णीरथस्थां रघुवीरपत्नीं साकेतनार्यः प्रासादवातायनदृश्यबन्धैः अञ्जलिभिः प्रणेमुः ।

सञ्जी०—श्वश्रूजनैरनुष्ठितचारुवेषां कृतसौम्यनेपथ्याम् । 'आकल्पवेषौ नेपथ्यम्' इत्यमरः । कर्णीरथः स्त्रीयोग्योऽल्परथः । 'कर्णीरथः प्रवहणं डयनं रथगर्भके' इति यादवः । तत्रस्थां रघुवीरपत्नीं सीतां साकेतनार्यः प्रसादवातायनेषु दृश्यबन्धैर्लक्ष्यपुटैरञ्जलिभिः प्रणेमुः ।

व्याख्या—श्वश्रूजनानुष्ठितचारुवेषा = कौशल्यादिसम्पादितमनोरमनेपथ्याम् कर्णीरथस्थां = महिलोचितरथसमालीनाम् अल्परथाधिष्ठिताम् । रघुवीरपत्नीं = रामसहधर्मिणीं सीताम् । साकेतनार्यः=अयोध्यावध्वः । प्रासादवातायनदृश्यबन्धैः=राजभवनवातायनलक्ष्यपुटैः । अञ्जलिभिः=मुकुलीकृतपाणिद्वयैः, हस्तपुटैः । प्रणेमुः = प्रणामं चक्रुः ।

समासः—श्वश्र्वो जना श्वश्रूजनाः श्वश्रूजनैः अनुष्ठितः चारुः वेषो यस्याः सा श्वश्रूजनानुष्ठितचारुवेषा तं श्वश्रूजनानुष्ठितचारुवेषाम् । कर्णीरथे तिष्ठतीति कर्णीरथस्था तां कर्णीरथस्थाम् । रघुषु वीरः रघुवीरः रघुवीरस्य पत्नी रघुवीरपत्नी तां रघुवीरपत्नीम् । साकेतस्य नार्यः साकेतनार्यः । प्रासादानां वातायनानि प्रासादवातायनानि प्रासादवातायनेषु दृश्यः बन्धो येषां ते प्रासादवातायनदृश्यबन्धाः तैः प्रासादवातायनदृश्यबन्धैः ।

भावार्थः—कौशल्यादिपरिधापितमनोहरवेषां महिलोचितरथे समासीनां सतीशिरोमणिं रघुवीरपत्नीं भगवतीं सीतां साकेतनगरनार्यः अट्टालिकागवाक्षेषु लक्ष्यपुटैरञ्जलिभिः नमस्कृतवत्य इति भावः ।

भाषार्थ—भवनों के झरोखों में दिखाई देनेवाली अयोध्या की महिलाओं ने हाथ जोड़कर उन सीताजी को प्रणाम किया, जो उस समय पालकी में बैठी हुई थीं और जिन्हें कौशल्या, सुमित्रा ने सुन्दर ढंग से वस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित कर दिया था ॥ १३ ॥

स्फुरत्प्रभामण्डलमानुसूयं सा बिभ्रती शाश्वतमङ्गरागम् ।
रराज शुद्धेति पुनः स्वपुर्यै संदर्शिता वह्निगतेव भर्त्रा ॥ १४ ॥

अन्वयः—स्फुरत्प्रभामण्डलम् आनुसूयं शाश्वतम् अङ्गरागं बिभ्रती सा भर्त्रा स्वपूर्यै शुद्धा इति संदर्शिता पुनः वह्निगता इव रराज।

सञ्जी०—स्फुरत्प्रभामण्डलमानुसूयमनुसूयया दत्तं शाश्वतं सदातनमङ्गरागं विलेपनद्रव्यं बिभ्रती सा सीता भर्त्रा स्वपुर्यै शुद्धेति संदर्शिता पुनर्वह्निगतेव रराज।

व्याख्या—सा=सीता। स्फुरत्प्रभामण्डलम्=शोभमानकान्तिपुञ्जम्। आनुसूयं=अनसूयासम्बन्धि, अनसूयया प्रदत्तम्। अत एव शाश्वतं=सनातनम्। अङ्गरागं=विलेपनद्रव्यम्। बिभ्रती=धारयन्ती भर्त्रा=पत्या श्रीरामेण। स्वपुर्यै=निजनगर्यै। अयोध्यायै शुद्धा= पवित्रा। इति = इत्थम्। सन्दर्शिता= प्रदर्शिता। पुनः = भूयः। वह्निगता = अग्निस्थिता इव रराज=शुशुभे।

समासः—प्रभायाः मण्डलं प्रभामण्डलम्। स्फुरत् प्रभामण्डलं यस्य स स्फुरत्प्रभामण्डलः तं स्फुरत्प्रभामण्डलम्। अनुसूयाया आगतः आनुसूयः तम् आनुसूयम्। अङ्गस्य रागः अङ्गरागः तम् अङ्गरागम्। शश्वत् भवः शाश्वतः तं शाश्वतम्। वह्निं गता वह्निगता।

भावार्थः—वनवासावसरे दण्डकारण्येऽत्रिमुनिपत्न्या अनसूयया पातिव्रत्यधर्मोपदेशानन्तरं साशीर्वादोपदेशं प्रदत्तं शाश्वतिकमङ्गरागं धारयन्ती भगवती सीता रामेणायोध्यावासिभ्यः शुद्धेति प्रदर्शिता भूयोऽग्निपरीक्षार्थं पावकं प्रविष्टेव शुशुभे इति भावः।

भाषार्थ—सीताजी के शरीर पर अब भी वह अमिट कान्तिवाला अंगराग लगा हुआ था, जो अनसूयाजी ने उनके शरीर में लगा दिया था, उससे अग्नि के समान प्रकाशमान उनका शरीर ऐसा दिखाई दे रहा था, मानो अयोध्यावासियों को सीताजी की शुद्धता दिखाने के लिए राम ने उन्हें अग्नि में पुनः प्रवेश कराकर शुद्ध कर दिया है ॥ १४ ॥

वेश्मानि रामः परिवर्हवन्ति विश्राण्य सौहार्दनिधिः सुहृद्भ्यः।
बाष्पायमाणो बलिमन्निकेतमालेख्यशेषस्य पितुर्विवेश ॥ १५ ॥

अन्वयः—सौहार्दनिधिः रामः सुहृद्भ्यः परिवर्हन्ति वेश्मानि विश्राण्य आलेख्यशेषस्य पितुः बलिमत् निकेतनं बाष्पायमाणः (सन्) विवेश।

सञ्जी०—सुहृदो भावः सौहार्द्रं सौजन्यम्। 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' इत्युभयपदवृद्धिः। सौहार्दनिधी रामः सुहृद्भ्यः सुग्रीवादिभ्यः परिवर्हवन्त्युपकरणवन्ति वेश्मानि विश्राण्य दत्त्वा आलेख्यशेषस्य चित्रमात्रशेषस्य पितुर्बलिमत्पूजायुक्तं

निकेतनं गृहं बाष्पायमाणो बाष्पमुद्वमन्विवेश । 'बाष्पोष्मस्यामुद्वमने' इति क्यङ्प्रत्ययः ।

व्याख्या— सौहार्दनिधिः=सुजनताशेवधिः । रामः=श्रीरामचन्द्रः । सुहृद्भ्यः =मित्रेभ्यः = सुग्रीवविभीषणादिभ्यः । परिवर्हवन्ति = राजयोग्योपकरणसम्पन्नानि । वेश्मानि = भवनानि । विश्राण्य = दत्त्वा, वितीर्य । आलेख्यशेषस्य = चित्रमात्रावशिष्टस्य । पितुः = जनकस्य दशरथस्य । वलिमत् = पूजायुक्तम् । निकेतनं = भवनम् । बाष्पायमाणः = वाष्पमुद्वहन् अश्रुधारां मुञ्चन् प्रविवेश = प्रविष्टः ।

समासः— सुष्ठु हृदयं यस्य स सुहृद् सुहृदो भावः सौहार्दम्, सौहार्दस्य निधिः सौहार्दनिधिः । परिवर्हं एषामस्तीति परिवर्हवन्ति तानि परिवर्हवन्ति । शिष्यते इति शेषः आलेख्ये शेषः आलेख्यशेष तस्यालेख्यशेषस्य । वलि अस्यास्तीति वलिमत् तत् वलिमत् । बाष्पमुद्वमन् बाष्पायमाणः ।

भावार्थः—सौजन्यशीलः श्रीरामः सुग्रीवविभीषणादीनां सुहृदां निवासार्थं विविधराजोपकरणयुक्तानि भवनानि प्रदाय स्वयं चित्रमात्रावशेषस्य पुत्रवत्सलस्य पितुः दशरथस्य पूजागृहं पर्यश्रुः प्रविष्ट इति भावः ।

भाषार्थ—सज्जनता के आकार राम ने पहले तो सुग्रीव आदि मित्रों को सब प्रकार की सामग्री से सुसज्जित भवनों में ठहराकर बाद अपने पिताके पूजाघर में गये । वहाँ दशरथजी का अकेला चित्र देखकर उनकी आँखोंमें आँसू आ गये ॥१५॥

कृताञ्जलिस्तत्र यदम्ब ! सत्यान्नाभ्रश्यत स्वर्गफलाद् गुरुर्नः ।
तच्चिन्त्यमानं सुकृतं तवेति जहार लज्जां भरतस्य मातुः ॥ १६ ॥

अन्वयः—अत्र कृताञ्जलिः (सन् रामः) हे अम्ब ! नः गुरुः स्वर्गफलात् सत्यात् न अभ्रश्यत इति यत् तत् चिन्त्यमानं तव सुकृतम् इति भरतस्य मातुः लज्जां जहार ।

सञ्जी०—तत्र निकेतने कृताञ्जलिः सन् रामः हे अम्ब ! नो गुरुः पिता स्वर्गः फलं यस्य तस्मात्सत्यान्नाभ्रश्यत न भ्रष्टवानिति यत्तदभ्रंशनं तच्चिन्त्यमानं विचार्यमाणं तव सुकृतम् । इत्येवंप्रकारेण भरतस्य मातुः कैकेय्या लज्जां जहारापानयत् राज्ञां प्रतिज्ञापरिपालनं स्वर्गसाधनमित्यर्थः ।'भरत' ग्रहणं तदपेक्षयाऽपि कैकेय्यनुसरणमिति द्योतनार्थम् ।

व्याख्या—तत्र=पितृनिकेतने । कृताञ्जलिः = संयोजितपाणिद्वयः श्रीरामः हे अम्ब ! = हे मातः ! नः = अस्माकम् । गुरुः=पिता । स्वर्गफलात्=सुरलोक-

परिणामात् । सत्यात् = तथ्यात् । न अभ्रश्यत = नो भ्रष्टवान् । इति यत् = अभ्रंशनम् । तत् अचिन्त्यमानं = अविचार्यमाणम् । तव = भवत्याः । सुकृतं = सुकार्यम् । इति = एवं प्रकारेण । भरतस्य मातुः = कैकेय्याः लज्जां = व्रीडाम् । जहार = अपानयत् ।

समासः—कृतः अञ्जलिः येन स कृताञ्जलिः । स्वर्गं फलं यस्य तत् स्वर्गफलम्, तस्मात् स्वर्गफलात् । चिन्त्यते इति चिन्त्यमानम् ।

भावार्थः— तस्मिन् पितृभवने कृताञ्जलिः प्रविश्य श्रीरामः स्ववनवासप्रदानलज्जाभारावनतां कैकेयीं प्रणमन् हे मातः ! ततः सत्यपालनात् तवैव पुण्यशेषात् न च्युतोऽतस्त्वं धन्यासीति सान्त्ववचनानि वदन् तस्या लज्जासङ्कोचमपनीतवानिति भावः ।

भाषार्थ—कैकेयी वहाँ उदास होकर बैठी हुई थी, राम ने हाथ जोड़कर उससे कहा—'माँ ! तुम्हारे ही पुण्य के प्रताप से हमारे पिताजी अपने उस सत्य से नहीं डिगे, जिससे स्वर्ग मिलता है । यदि आप उनसे वरदान न माँगतीं तो, उनकी वरदान देने की प्रतिज्ञा झूठी हो जाती ।' यह सुनकर कैकेयी की आत्मग्लानि जाती रही ॥ १६ ॥

तथैव सुग्रीवविभीषणादीनुपाचरत्कृत्रिमसंविधाभिः ।
संकल्पमात्रोदितसिद्धयस्ते क्रान्ता यथा चेतसि विस्मयेन ॥ १७ ॥

अन्वयः—सुग्रीवविभीषणादीन् । कृत्रिमसंविधाभिः तथा एव उपाचरत् यथा संकल्पमात्रोदितसिद्धयः ते चेतसि विस्मयेन क्रान्ताः ।

सञ्जी०—सुग्रीवविभीषणादीन् । संविधीयन्त इति संविधाः भोग्यवस्तूनि कृत्रिमसंविधाभिस्तथा तेन प्रकारेणैवोपाचरेत्, यथा सङ्कल्पमात्रेणेच्छामात्रेणोदितसिद्धयस्ते सुग्रीवादयश्चेतसि विस्मयेन क्रान्ताः व्याप्ताः ।

व्याख्या—श्रीरामः सुग्रीवविभीषणादीन् = सुकण्ठविभीषणाङ्गदप्रभृतीन् । कृत्रिमसंविधाभिः = क्रियोपकल्पितभोग्यपदार्थैः । तथा एव = तेन प्रकारेण एव । उपाचरत् = सत्कृतवान् । यथा = येन प्रकारेण सङ्कल्पमात्रोदितसिद्धयः = इच्छामात्रप्राप्तसिद्धयः । ते = सुग्रीवादयः । चेतसि = चित्ते । विस्मयेन = आश्चर्येण । क्रान्ताः = आक्रान्ताः । अभिभूता अभूवन् ।

समासः—सुग्रीवश्च विभीषणश्च सुग्रीवविभीषणौ सुग्रीवविभीषणौ आदी येषां ते सुग्रीवविभीषणादयः तान् सुग्रीवविभीषणादीन् । क्रियया निवृत्ताः कृत्रिमाः, संविधीयन्ते इति संविधाः । कृत्रिमाश्च ता संविधाः कृत्रिमसंविधाः ताभिः कृत्रिम-

संविधाभिः । संकल्प एव संकल्पमात्रं संकल्पमात्रेण उदिता सिद्धिर्येषां ते संकल्पमात्रोदितसिद्धयः ।

भावार्थः—श्रीरामः अनेकविधैः तत्तदवसरोचितैः नवनिर्मितभोग्यवस्तुभिः सुग्रीवविभीषणादीन् सुहृदः तथा सत्कृतवान् यथा इच्छामात्रप्राप्तसिद्धयस्ते सुग्रीवादय आश्चर्यचकिता अभूवन्निति भावः ।

भाषार्थ—वहाँ से आकर राम ने सुग्रीव और विभीषण आदि मित्रों का अच्छी तरह स्वागत किया, उन लोगों को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि हम जो कुछ चाहते हैं, वह तत्काल विना कहे ही मिल जाता है ॥ १७ ॥

सभाजनायोपगतान् स दिव्यान् मुनीन् पुरस्कृत्य हतस्य शत्रोः ।
शुश्राव तेभ्यः प्रभवादि वृत्तं स्वविक्रमे गौरवमादधानम् ॥ १८ ॥

अन्वयः—सः सभाजनाय उपगतान् दिव्यान् मुनीन् पुरस्कृत्य हतस्य शत्रोः प्रभवादि स्वविक्रमे गौरवमादधानं वृत्तं तेभ्यः शुश्राव ।

सञ्जी०—स रामः सभाजनायाभिवन्दनायोपगतान् । दिवि भवान्मुनीनगस्त्यादीन् पुरस्कृत्य हतस्य शत्रो रावणस्य प्रभवादि जन्मादिकं स्वविक्रमे गौरवमुत्कर्षमादधानं वृत्तं तेभ्यो मुनिभ्यः शुश्राव श्रुतवान् । विजितोत्कर्षाज्जेतुरुत्कर्ष इत्यर्थः ।

व्याख्या—सः=रामः । सभाजनाय=अभिवादनाय । उपगतान्=समीपप्राप्तान् । दिव्यान् = लोकोत्तरान् । मुनीन् = ऋषीन्, अगस्त्यादीन् । पुरस्कृत्य= सत्कृत्य । हतस्य = व्यापादितस्य । शत्रोः = रिपोः, रावणस्य । प्रभवादि= जन्मादिकम् । स्वविक्रमे = आत्मपराक्रमे । गौरवं = उत्कर्षम् । आदधानम्= प्रतिपादयत् । वृत्तं = चरित्रम् । तेभ्यः = दिव्यमुनिभ्यः । शुश्राव = श्रुतवान् ।

समासः—प्रभवः आदिर्यस्य तत् प्रभवादि तत् प्रभवादि । स्वस्य विक्रमः स्वविक्रमः तस्मिन् स्वविक्रमे । आधत्ते इति आदधानम् तत् आदधानम् ।

भावार्थः—श्रीरामः स्वस्याभिनन्दनाय समागतान् दिव्यज्ञानिनोऽगस्त्यप्रभृतीन् मुनीन् सादरं सत्कृत्य तेभ्यः सकाशात् हतस्य शत्रोः रावणस्य जन्मकर्मादिकं चरित्रं श्रुतवानिति भावः ।

भाषार्थ—तब राम ने उन अगस्त्य आदि ऋषियों का सत्कार किया, जो उन्हें बधाई देने के लिए आये हुए थे, फिर उनसे उन्होंने अपने शत्रु रावण के जन्म से मृत्यु तक का वह वृत्तान्त सुना, जो उनका गौरव बढ़ानेवाला था ॥१८॥

प्रतिप्रयातेषु तपोधनेषु सुखादविज्ञातगतार्धमासान् ।
सीतास्वहस्तोपहृताग्र्यपूजान्रक्षःकपीन्द्रान्विससर्ज रामः ॥ १९ ॥

अन्वयः—तपोधनेषु प्रतिप्रयातेषु सुखात् अविज्ञातगतार्धमासान् सीतास्वहस्तोपहृताग्र्यपूजान् रक्षःकपीन्द्रान् रामः विससर्ज ।

सञ्जी०—तपोधनेषु मुनिषु प्रतिप्रयातेषु प्रतिनिवृत्य गतेषु सत्सु सुखादविज्ञात एव गतोऽर्धमासो येषां ताननन्तरं सीतायाः, स्वहस्तेनोपहृता दत्ताऽग्र्यपूजोत्तमसम्भावना येभ्यस्तान् । एतेन सौहार्दातिशय उक्तः । रक्षःकपीन्द्रान् रामो विससर्ज विसृष्टवान् ।

व्याख्या—श्रीरामः तपोधनेषु=तपस्विषु अगस्त्यादिषु । प्रतियातेषु=प्रतिनिवृत्तेषु सुखात्=आनन्दात् । अविज्ञातगतार्धमासान् = अविदितव्यतीतपक्षान् । सीतास्वहस्तोपहृताग्र्यपूजान् = जानक्यात्मकरोपायनीकृतश्रेष्ठसत्कारान् । रक्षःकपीन्द्रान् = राक्षसवानरश्रेष्ठान् विभीषणसुग्रीवाङ्गदादीन् विससर्ज = विसृष्टवान् स्वस्वस्थानं प्रेषयामासेत्यर्थः ।

समासः—तप एव धनं येषां ते तपोधनाः तेषु तपोधनेषु । अर्द्धश्चासौ मासः अर्द्धमासः न विज्ञातः अविज्ञातः अविज्ञातः गतोऽर्द्धमासः येषां ते अविज्ञतगतार्द्धमासाः तान् अविज्ञातगतार्द्धमासान् । स्वस्य हस्तः स्वहस्तः सीतायाः स्वहस्तः सीतास्वहस्तः, अग्रेभवा अग्र्या अग्र्या चासौ पूजा अग्र्यपूजा सीतास्वहस्तेन उपहृता अग्र्यपूजा येभ्यः ते सीतास्वहस्तोपहृताग्र्यपूजाः तान् सीतास्वहस्तोपहृताग्र्यपूजान् । रक्षांसि च कपयश्च रक्षःकपयः रक्षःकपीनामिन्द्राः रक्षःकपीन्द्राः तान् रक्षःकपीन्द्रान् ।

भावार्थः—श्रीरामः स्वस्याभिनन्दनार्थं समागतेषु तपस्विषु परावृत्तेषु सत्सु आनन्दातिशयसुखात् अविदितज्ञापितपक्षान् सीतया वात्सल्यात् स्वहस्तेन उपहारीकृतोत्तमवस्तून् लङ्कायाः किष्किन्धायाश्च क्षेमाय स्वोद्बोधं विभीषणसुग्रीवादीन् स्वस्वस्थानाय प्रेषयामासेति भावः ।

भाषार्थ—तपस्वियों के चले जाने पर राम ने उन राक्षसों और वानरों के राजाओं को विदा किया, जो अयोध्या में इतने आनन्द से रहे कि उन्हें पता ही नहीं चला कि आधा महीना कब बीत गया । चलते समय सीताजी स्वयं अपने हाथों से सत्कार के लिए सामग्री लायीं ॥ १९ ॥

तच्चात्मचिन्तासुलभं विमानं हृतं सुरारेः सह जीवितेन ।
कैलासनाथोद्वहनाय भूयः पुष्पं दिवः पुष्पकमन्वमंस्त ॥ २० ॥

अन्वयः—तत् आत्मचिन्तासुलभं सुरारेः जीवितेन सह हृतं दिवः पुष्पं पुष्पकं भूयः कैलासनाथोद्वहनाय अन्वमंस्त ।

सञ्जी०—तच्चात्मचिन्तासुलभं स्वेच्छामात्रलभ्यं सुरारे रावणस्य जीवितेन सह हृतं दिवः पुष्पं पुष्पवदाभरणभूतं पुष्पकं विमानं भूयः पुनरपि कैलासनाथस्य कुवेरस्योद्वहनायान्वमंस्तानुज्ञातवान्। मन्यतेर्लुङ्। भूयो ग्रहणेन पूर्वमप्येतत् कौबेरमेवेति सूच्यते।

व्याख्या—श्रीरामः तत्=पूर्वोक्तम्। आत्मचिन्तासुलभं=स्वेच्छामात्रलभ्यम्। सुरारेः=देवद्वेषिणः रावणस्य। जीवितेन सह=जीवनेन प्राणैः साकम्। हृतं=स्वायत्तीकृतं, समानीतम्। दिवः=आकाशस्य। पुष्पं = कुसुमं, पुष्पसमभूषणम्। पुष्पकं = पुष्पकनामकम्। विमानम्=व्योमयानम्। च भूयः = पुनरपि कैलास-नाथोद्वहनाय=कुवेरयानाय। अन्वमंस्त=अनुज्ञातवान्।

समासः—चिन्तया सुलभं चिन्तासुलभम् आत्मने चिन्तासुलभमिति आत्म-चिन्तासुलभम् तत् आत्मचिन्तासुलभम्। सुराणामरिः सुरारिः तस्य सुरारेः। कैलासस्य नाथः कैलासनाथः कैलासनाथस्य उद्वहनं कैलासनाथोद्वहनं तस्मै कैलासनाथोद्वहनाय।

भावार्थः—श्रीरामः स्मरणमात्रेणैव सुप्रापं दशाननस्य प्राणैः सह समानीतं गगनपुष्पवत् स्वर्गस्यालङ्कारभूतं तत् पुष्पकं विमानं भूयोऽपि यक्षराजस्य कुबेरस्य यानाय तदन्तिके प्रेषयामासेति भावः।

भाषार्थ—राम ने उस स्वर्ग के पुष्प के समान पुष्पक विमान को भी कुवेर के पास जाने की आज्ञा दे दी जो इच्छा करते ही उनकी सेवा के लिए आ जाता था और जिसे उन्होंने रावण के प्राण के साथ साथ उससे हरण कर लिया था॥ २०॥

पितुर्वियोगाद्वनवासमेवं निस्तीर्य रामः प्रतिपन्नराज्यः।
धर्मार्थकामेषु समां प्रपेदे यथा तथैवावरजेषु वृत्तिम्॥ २१॥

अन्वयः—रामः एवं पितुः नियोगात् वनवासं निस्तीर्य प्रतिपन्नराज्यः धर्मार्थ-कामेषु यथा तथैवावरजेषु समां वृत्तिं प्रपेदे।

सञ्जी०—राम एवं पितुर्नियोगाच्छासनाद्वनवासं निस्तीर्यानन्तरं प्रतिपन्नराज्यः प्राप्तराज्यः सन्। धर्मार्थकामेषु यथा तथैवावरजेष्वनुजेषु समां वृत्तिं प्रपेदे। अवै-षम्येण व्यवहृतवानित्यर्थः।

व्याख्या—रामः=रघुनाथः। एवं = इत्थम्। पितुः = जनकस्य, दशरथस्य। नियोगात् = शासनात्। वनवासं = चतुर्दशवर्षपर्यन्तमरण्यवासम्। निस्तीर्य = यापयित्वा, व्यतीत्य। प्रतिपन्नराज्यः = प्राप्तराज्यः सन्। यथा = येन प्रकारेण। धर्मार्थकामेषु = पुरुषार्थत्रये। तथा एव = तेन प्रकारेणैव। अवरजेषु = अनुजेषु

भरतलक्ष्मणशत्रुघ्नेषु त्रिषु समां = तुल्यरूपां भेदभावरहितामेकरूपाम् । वृत्तिं = व्यवहारम् । प्रपेदे = प्राप्तवान् ।

समासः—वने वासः वनवासः तं वनवासम् । राज्ञः कर्म भावो वा राज्यम् प्रतिपन्नं राज्यं येन सः प्रतिपन्नराज्यः । धर्मश्च अर्थश्च कामश्चेति धर्मार्थकामाः तेषु धर्मार्थकामेषु । अवरं जाता अवरजाः तेषु अवरजेषु ।

भावार्थः—एवं पूर्वोक्तप्रकारेण श्रीरामः पितुः राज्ञो दशरथस्यादेशं पालयन् चतुर्दशवर्षपर्यन्तं वनवासं समनुभूय अयोध्याराज्यमुपलभ्य त्रीन् धर्मार्थकामान् पुरुषार्थान् समानरूपेण सेवमानो भरतलक्ष्मणशत्रुघ्नेषु त्रिषु भ्रातृषु अवैषम्येण व्यवहृतवानिति भावः ।

भाषार्थ—इस प्रकार पिता की आज्ञा से वनवास की अवधि बिताकर राम ने अपने पिता का राज्य पुनः पाया । जिस प्रकार धर्म, अर्थ और काम के साथ समान व्यवहार करते थे उसी प्रकार अपने भाइयों के साथ भी समान प्रेम का व्यवहार करते थे ॥ २१ ॥

सर्वासु मातृष्वपि वत्सलत्वात्स निर्विशेषप्रतिपत्तिरासीत् ।
षडाननापीतपयोधरासु नेता चमूनामिव कृत्तिकासु ॥ २२ ॥

अन्वयः—स वत्सलत्वात् सर्वासु मातृषु अपि निर्विशेषप्रतिपत्तिः आसीत् चमूनां नेता षडाननापीतपयोधरासु कृत्तिकासु इव ।

सञ्जी०—स रामो वत्सलत्वात्स्निग्धत्वात् न तु लोकप्रतीत्यर्थम् । 'स्निग्धस्तु वत्सलः' इत्यमरः । सर्वासु मातृष्वपि निर्विशेषप्रतिपत्तिस्तुल्यसत्कार आसीत् । कथमिव चमूनां नेता षण्मुखः षड्भिराननैरापीताः पयोधराः स्तना यासां तासु कृत्तिकास्विव ।

व्याख्या—सः = रामः । वत्सलत्वात् = स्निग्धत्वात् । सर्वासु सकलासु मातृषु अपि = जननीषु अपि । चमूनां=देवसेनानाम् । नेता = नायकः । सेनानी, कार्तिकेयः षडाननापीतपयोधरासु=षण्मुखपीतस्तनासु कृत्तिकासु इव = षट्कृत्तिकाख्यतारासु इव । निर्विशेषप्रतिपत्तिः = तुल्यसत्कारः आसीत् = अभवत् । अवैषम्येण सर्वासु मातृषु व्यवहृतवानित्यर्थः ।

समासः—वत्सलस्य भावः वत्सलत्वम् तस्मात् वत्सलत्वात् । निर्गतः विशेषो यस्याः सा निर्विशेषा निर्विशेषा प्रतिपत्तिर्यस्य सः निर्विशेषप्रतिवत्तिः । षट् च तानि आननानि इति षडाननानि षडाननैः आपीताः पयोधरा यासां ताः षडाननापीतपयोधराः तासु षडाननापीतपयोधरासु ।

भावार्थः—यथा षडाननः कार्तिकेयः षट्सु कृत्तिकासु समानस्नेहवान् आसीत् तथैव श्रीरामोऽपि तिसृष्वपि मातृषु कौशल्या-सुमित्रा-कैकेयीषु समानव्यवहारवान् बभूवेति भावः।

भाषार्थ—जिस प्रकार स्वामी कार्तिकेय अपने ६ मुखों से कृत्तिकाओं के ६ स्तनों को पीकर समान रूप से प्रेम दिखाते थे, उसी प्रकार राम भी अपनी तीनों माताओं पर बराबर प्यार करते थे। शास्त्रों में कृत्तिका नक्षत्र की संख्या तीन है। इसलिए षडानन कार्तिकेय के पीने के लिए तीन कृत्तिकाओं का ६ स्तनों का होना उचित ही है॥ २२॥

तेनार्थवाँल्लोभपराङ्मुखेन तेन घ्नता विघ्नभयं क्रियावान्।
तेनास लोकः पितृमान् विनेत्रा तेनैव शोकापनुदेन पुत्री॥ २३॥

अन्वयः—लोकः लोभपराङ्मुखेन तेन अर्थवान् आस विघ्नभयं घ्नता तेन क्रियावान् विनेत्रा तेन पितृमान् शोकापनुदेन तेन एव पुत्री (आस)।

सञ्जी०—लोको लोभपराङ्मुखेन वदान्येन तेन रामेणार्थवान्धनिक आस बभूव। तिङन्तप्रतिरूपकमव्ययमेतत्। विघ्नेभ्यो भयं घ्नता नुदता तेन क्रियावाननुष्ठानवानास। विनेत्रा नियामकेन तेन पितृमानास। पितृवन्नियच्छतीत्यर्थः। शोकमपनुदतीति शोकापनुदो दुःखस्य हर्ता तेन। 'तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः' इति कप्रत्ययः। तेन पुत्री पुत्रवानास। पुत्रवदानन्दयतीत्यर्थः।

व्याख्या—लोकः=साधारणो जनवर्गः। लोभपराङ्मुखेन=अलोलुपेन, वदान्येन। तेन=श्रीरामेण। अर्थवान्=धनिकः। आस=बभूव। लोको जनवर्गः विघ्नभयं=अन्तरायत्रासम्। घ्नता=निवारयता। तेन=रामेण क्रियावान्=कार्यानुष्ठानवान् आस। लोकः विनेत्रा=नियामकेन। तेन=रामेण पितृमान्=जनकसम्पन्नः। आस=बभूव। लोकः शोकापनुदेन=दुःखहर्त्रा तेनैव=रामेणैव पुत्री=पुत्रवान् आस=बभूव।

समासः—पराङ्मुखं यस्य सः पराङ्मुखः लोभपराङ्मुखः लोभपराङ्मुखः तेन लोभपराङ्मुखेन। अर्थोऽस्यास्तीति अर्थवान्। विघ्नेभ्यो भयं विघ्नभयम्, तत् विघ्नभयम्। क्रिया अस्यास्तीति क्रियावान्। विनयतीति विनेता तेन विनेत्रा। पिताऽस्यास्तीति पितृमान्। शोकमपनुदतीति शोकापनुदः तेन शोकापनुदेन। पुत्रोऽस्यास्तीति पुत्री।

भावार्थः—अलोलुपस्य श्रीरामस्य विपुलदानशीलत्वात् प्रजावर्गः समृद्धो बभूव, विघ्नापहारकत्वात् निर्विघ्नधर्मानुष्ठानवान् आसीत्, नियामकत्वात् पितृसम्पन्नो

जातः, शोकापहारकत्वात् पुत्रवांश्चाभवत् । एवं श्रीरामः प्रजाजनं सुकृत्येषु प्रवर्तं- यन् अकृत्यात् निवारयन्, प्रजाकष्टं दूरयन् प्रजावात्सल्यात् पुत्रवदानन्दयंश्च सर्वोपकारको राजा बभूवेति भावः ।

भाषार्थ—राम निर्लोभ थे, इसलिए उन्होनेप्रजाओं पर कोई कर नहीं लगाया, फल यह हुआ कि थोड़े दिनों में प्रजा धनी हो गयी, वे कहीं भी विघ्न आने ही नहीं देते थे, इसलिए सभी लोग प्रसन्नता से यज्ञ आदि क्रियाएँ करने लगे। वे सबको ठीक मार्ग पर चलाते थे, अतः सभी उनको पिता के समान मानते थे, विपत्ति पड़ने पर वे सबकी सहायता करते थे, इसलिए वे पुत्रवान् भी थे ॥२३॥

स पौरकार्याणि समीक्ष्य काले रेमे विदेहाधिपतेर्दुहित्रा ।
उपस्थितश्चारु वपुस्तदीयं कृत्वोपभोगोत्सुकयेव लक्ष्म्या ॥ २४ ॥

अन्वयः—सः काले पौरकार्याणि समीक्ष्य विदेहाधिपतेः दुहित्रा उपभोगो- त्सुकया (अत एव) तदीयं चारु वपुः कृत्वा (स्थितया) लक्ष्म्या इव उपस्थितः सन् रेमे ।

सञ्जी०—स रामः कालेऽवसरे पौराणां कार्याणि प्रयोजनानि समीक्ष्य विदेहाधिपतेर्दुहित्रा सीतया । उपभोगोत्सुकयाऽत एव तदीयं सीतासंबन्धि चारु वपुः कृत्वा स्थितया लक्ष्म्येव । उपस्थितः संगतः सन् । रेमे । 'उपस्थानं तु सङ्गतिः' इति यादवः ।

व्याख्या—सः = श्रीरामः । काले=अवसरे । पौरकार्याणि=नागरिकव्यवहा- रान् । समीक्ष्य=निरीक्ष्य, निर्णीय, विचार्य । तदीयं=सीतासम्बन्धि । चारु= सुन्दरम् । वपुः=शरीरम् । कृत्वा=विधाय । स्थितया उपभोगोत्सुकया रमणो- त्कण्ठितया । लक्ष्म्या इव=श्रिया इव । विदेहाधिपतेः=मिथिलापतेः, जनकस्य दुहित्रा=पुत्र्या, सीतया । उपस्थितः = सङ्गतः सन् । रेमे = चिक्रीड, तां बुभुजे इत्यर्थः ।

समासः—पुरे भवाः पौरा पौराणां कार्याणि पौरकार्याणि तानि पौर- कार्याणि । विदेहानामधिपतिः विदेहाधिपतिः तस्य विदेहाधिपतेः । तस्याः इदं तदीयं तत् तदीयम् । उपभोगे उत्सुका उपभोगोत्सुका तया उपभोगोत्सुकया ।

भावार्थः—श्रीरामः उचितावसरे प्रजावर्गकार्याणि सम्पाद्य रामोपभोगार्थं स्वशरीरस्य सौन्दर्याभावात् सीताशरीरं सन्धार्य सन्निहितया उत्कण्ठितया लक्ष्म्या इव स्थितया सीतया सह रेमे इति भावः ।

भाषार्थ—वे ठीक समय पर प्रजा का काम देखभालकर सीता के साथ

रमण करते थे, उन्हें देखकर ऐसा मालूम पड़ता था कि मानो राजलक्ष्मी ने ही राम के साथ रमण करने के लिए सीता का सुन्दर रूप धर लिया है ॥ २४ ॥

तयोर्यथाप्रार्थितमिन्द्रियार्थानासेदुषोः सद्मसु चित्रवत्सु ।
प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु संचिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन् ॥ २५ ॥

अन्वयः—चित्रवत्सु सद्मसु यथाप्रार्थितम् इन्द्रियार्थान् आसेदुषोः दण्डकेषु प्राप्तानि दुःखानि अपि संचिन्त्यमानानि सुखानि अभूवन् ।

सञ्जी०—चित्रवत्सु वनवासवृत्तान्तालेख्यवत्सु सद्मसु यथाप्रार्थितं यथेष्टमिन्द्रियार्थानिन्द्रियविषयाञ्शब्दादीनासेदुषोः प्राप्तवतोस्तयोः सीता रामयोर्दण्डकेषु दण्डकारण्येषु प्राप्तानि दुःखान्यपि विरहविलापान्वेषणादीनि संचिन्त्यमानानि स्मर्यमाणानि सुखान्यभूवन् । स्मारकं तु चित्रदर्शनमिति द्रष्टव्यम् ।

व्याख्या—वनवासवृत्तान्तस्य चित्रवत्सु=आलेखवत्सु सद्मसु = राजसदनेषु । यथाप्रार्थितं=यथेष्टम् । इन्द्रियार्थान्=इन्द्रियविषयान् शब्दस्पर्शादीन् । आसेदुषोः=प्राप्तवतोः । तयोः = सीता-रामयोः । दण्डकेषु=दण्डकारण्येषु । प्राप्तानि=आसादितानि, अनुभूतानि । दुःखानि = कष्टानि विरहविलापनादीनि अपि । संचिन्त्यमानानि=स्मर्यमाणानि । सुखानि=आनन्दरूपाणि । अभूवन्=जातानि ।

समासः—चित्राणि सन्ति एषु इति चित्रवन्ति तेषु चित्रवत्सु । प्रार्थितमनतिक्रम्य यथाप्रार्थितम् इन्द्रियाणामर्था इन्द्रियार्थाः तान् इन्द्रियार्थान् । सा च स च तौ तयोः । संचिन्त्यते इति संचिन्त्यमानम् ।

भावार्थः—वनवासवृत्तान्तचित्रयुक्तेषु वासभवनेषु यथेष्टं सुखमनुभवतोः सीतारामयोः दण्डकारण्ये प्राप्तानि परस्परविरहक्लेशदुःखान्यपि संचिन्त्यमानानि सुखानि अभूवन् । अर्थात् विरहकाले अनुभूतं दुःखमपि संयोगकाले ताभ्यां तच्चित्रदर्शने सुखरूपमेव प्रतीतमिति भावः ।

भाषार्थ—वे दोनों उस भवन में इच्छानुसार विलास करते थे, जिसमें वनवास के समय के चित्र टंगे हुए थे, जिन्हें देखकर वनवास के दुःखों का स्मरण करके भी उन्हें सुख ही मिलता था ॥ २५ ॥

अथाधिकस्निग्धविलोचनेन मुखेन सीता शरपाण्डुरेण ।
आनन्दयित्री परिणेतुरासीदनक्षरव्यञ्जितदोहदेन ॥ २६ ॥

अन्वयः—अथ सीता अधिकस्निग्धविलोचनेन शरपाण्डुरेण अनक्षरव्यञ्जितदोहदेन मुखेन परिणेतुः आनन्दयित्री असीत् ।

सञ्जी०—अथ सीताधिकस्निग्धविलोचनेनात्यन्तमसृणलोचनेन शरवत्तृण-

विशेषवत्पाण्डुरेणात एवानक्षरवाग्व्यापारं यथा भवति तथाव्यञ्जितं कटितं दोहदं गर्भो येन तेन मुखेन परिणेतुः पत्युः । अत्र कर्मणि षष्ठी । आनन्दयित्र्यासीत् ।

व्याख्या—अथ अनन्तरं पश्चात् । सीता=मैथिली । अधिकस्निग्धविलोचनेन=अतिशयमसृणनयनेन । शरपाण्डुरेण = शरवत्पाण्डुरवर्णेन । अनक्षरव्यञ्जितदोहदेन=अवाग्व्यापारप्रगटगर्भेण । मुखेन = आननेन । हेतुना । परिणेतुः = पत्युः श्रीरामस्य । आनन्दयित्री=आनन्ददायिनी । आसीत् अभवत् ।

समासः—अधिकं यथा स्यात्तथा स्निग्धे विलोचने यस्मिन् तत् अधिकस्निग्धविलोचनं तेन अधिकस्निग्धविलोचनेन । शरवत् पाण्डुरं शरपाण्डुरं तेन शरपाण्डुरेण । न विद्यते अक्षराणि यस्मिन् कर्मणि तत् यथा भवति तथा अनक्षरम्, अनक्षरं व्यञ्जितं दोहदं येन तत् अनक्षरव्यञ्जितदोहदम् तेन अनक्षरव्यञ्जितदोहदेन । आनन्दयतीति आनन्ददात्री ।

भावार्थः—तदनन्तरम् अतिस्निग्धनयनं शरवत् पाण्डुरवर्णं वाग्व्यापारं विनैव प्रकाशितगर्भचिह्नं जानक्या मुखमवलोक्य भगवान् रामः तामन्तर्वत्नीमनुमीय अत्यधिकमानन्दमनुभूतवान् ।

भाषार्थ—इसके बाद सीताजी के नेत्रों की शोभा बढ़ने लगी और उनका मुख पके सरपत के समान पीला पड़ने लगा । इन गर्भ के लक्षणों को देखकर राम बड़े प्रसन्न हुए । अर्थात् मुख की पाण्डुरता से सीता को गर्भिणी जानकर राम अति आनन्दित हुए ॥ २६ ॥

तामङ्कमारोप्य कृशाङ्गयष्टिं वर्णान्तराक्रान्तपयोधराग्राम् ।
विलज्जमानां रहसि प्रतीतः पप्रच्छ रामां रमणोऽभिलाषम् ॥ २७ ॥

अन्वयः—प्रतीतः रमणः प्रियां कृशांगयष्टिं वर्णान्तराक्रान्तपयोधराग्राम् विलज्जमानां तां रामां अङ्कम् आरोप्य अभिलाषं पप्रच्छ ।

सञ्जी०—प्रतीतो गर्भज्ञानदान् रमयतीति रमणः प्रियां कृशाङ्गयष्टिं वर्णान्तरेण नीलिम्नाक्रान्तपयोधराग्रां विलज्जमानां तां रामां रहस्यङ्कमारोप्याभिलाषं मनोरथं पप्रच्छ । एतच्च—'दोहदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात् ।' इति शास्त्रात्, न तु लौल्यादित्यनुसन्धेयम् ।

व्याख्या—प्रतीतः = गर्भज्ञानवान् रमणः=कान्तः, श्रीरामः । कृशाङ्गयष्टिं= तनुगात्रलताम्, तन्वङ्गीम् । वर्णान्तराक्रान्तपयोधराग्रां = अन्यवर्णप्राप्तचूचुकाम् विलज्जमानां = विशेषेण व्रीडमानाम् । रामां = प्रियां रमणीम् । तां=पूर्वोक्त-

गर्भलक्षणां सीताम् । रहसि=एकान्ते । अङ्कम्=उत्सङ्गम् । आरोप्य=संस्थाप्य । अभिलाषं=दोहृदम् । पप्रच्छ=पृष्टवान् ।

समासः—अङ्गं यष्टिरिव अङ्गयष्टिः कृशा अङ्गयष्टिः यस्याः सा कृशाङ्गयष्टिः तां कृशाङ्गयष्टिम् । पयोधरयोः अग्रे पयोधराग्रे अन्यो वर्णः वर्णान्तरं वर्णान्तरेण आक्रान्ते पयोधराग्रे यस्याः सा वर्णान्तराक्रान्तपयोधराग्रा तां वर्णान्तराक्रान्तपयोधराग्राम् । विलज्जते इति विलज्जमाना तां विलज्जमानाम् ।

भावार्थः—प्रसन्नः श्रीरामः तन्वङ्गीं नीलचूचुकां लज्जयाधोमुखीं प्रियां सीतां गर्भवतीं ज्ञात्वा तामेकान्ते स्वोत्सङ्गमारोप्य गर्भिणीमनोरथं पृष्ठवानिति भावः । गर्भिणीनामभिलाषविषये महर्षेः याज्ञवल्क्यस्य मतमस्ति यद् गर्भिण्या अभिलाषस्यापूर्णेन गर्भो दोषमवाप्नोति अतो गर्भिण्यादोहृदं पूरणीयम्—

'दोहृदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात् ।
वैरूप्यं मरणं चापि यस्मात् कार्यं प्रियं स्त्रिया ॥'

भाषार्थ—जब राम को पूर्ण विश्वास हो गया कि सीताजी गर्भिणी हैं, तो वे दुर्बल शरीरवाली श्यामवर्णवाले स्तनाग्रों से युक्त एवं सलज सीता को एकान्त में गोद में लेकर पूछने लगे कि बताओ, तुम्हें क्या-क्या चाहिए ? ॥ २७ ॥

सा दष्टनीवारबलीनि हिंस्रैः संबद्धवैखानसकन्यकानि ।
इयेष भूयः कुशवन्ति गन्तुं भागीरथीतीरतपोवनानि ॥ २८ ॥

अन्वयः—सा हिंस्रैः दष्टनीवारबलीनि संवद्धवैखानसकन्यकानि कुशवन्ति भागीरथीतीरतपोवनानि भूयः गन्तुम् इयेष ।

सञ्जी०—सा सीता हिंस्रैर्दष्टा नीवारा एव बलयो येषु तानि । तिर्यग्भिक्षुकादिदानं बलिः । संबद्धाः कृतसंबन्धाः कृतसख्या वैखानसानां कन्यका तेषु तानि कुशवन्ति भागीरथीतीरतपोवनानि भूयः पुनरपि गन्तुमियेषाभिललाष ।

व्याख्या—सा = जनकनन्दिनी सीता । हिंस्रैः = हिंसनशीलैर्जन्तुभिः । दष्टनीवारबलीनि=भक्षितमुन्यन्नबलीनि । सम्बद्धवैखानसकन्यकानि=कृतसख्यवानप्रस्थकुमारीयुक्तानि । कुशवन्ति=दर्भवन्ति । भागीरथीतीरतपोवनानि = गङ्गातटतपोऽरण्यानि । भूयः=पुनरपि गन्तुं=यातुम् । इयेष=अभिललाष, आचकाङ्क्ष ।

समासः—नीवाराश्च बलयश्च नीवारबलयः यद्वा नीवाराणां बलयो नीवारबलयः दष्टा नीवारबलयो येषु तानि दष्टनीवारबलीनि तानि दष्टनीवारबलीनि । वैखानसानां कन्यका वैखानसकन्यकाः सम्बद्धा वैखानसकन्यकाः येषु तानि सम्बद्धवैखानसकन्यकानि तानि सम्बद्धवैखानसकन्यकानि । कुशाः सन्ति येषु तानि

कुर्वन्ति । भागीरथ्याः तीरं भागीरथीतीरम् भागीरथीतीरस्य तपोवनानीति भागीरथीतीरतपोवनानि, तानि भागीरथीतीरतपोवनानि ।

भावार्थः—श्रीरामेण दोहदं पृष्टा जनकनन्दिनीसीता सखीभिः वानप्रस्थकुमारीभिः युक्तानि कुशप्रचुराणि गङ्गातीरस्थानि तपोवनानि पुनरपि गन्तुमभिलषेति भावः ।

भाषार्थ—सीताजी ने कहा—मैं गंगा के तट के उन तपस्वियों को देखना चाहती हूँ जहाँ के हिंसक जन्तु मांस न खाकर नीवार ही खाते हैं, जहाँ मेरी सखियाँ तपस्वियों की कन्याएँ रहती हैं और जहाँ कुशा की पर्णकुटिया चारों ओर खड़ी हैं ॥ २८ ॥

तस्यै प्रतिश्रुत्य रघुप्रवीरस्तदीप्सितं पार्श्वचरानुयातः ।
आलोकयिष्यन्मुदितामयोध्यां प्रासादमभ्रंलिहमारुरोह ॥ २९ ॥

अन्वयः—रघुप्रवीरः तस्यै तत् इप्सितं प्रतिश्रुत्य पार्श्वचरानुयातः (सन्) मुदितां अयोध्यां आलोकयिष्यन् अभ्रंलिहं प्रासादम् आरुरोह ।

सञ्जी०—रघुप्रवीरो रामस्तस्यै सीतायै तत्पूर्वोक्तमीप्सितं मनोरथं प्रतिश्रुत्य पार्श्वचरैस्तत्कालोचितैरनुयातः सन्मुदितां तामयोध्यामालोकयिष्यन् अभ्रं लेढीत्यभ्रंलिहमभ्रङ्कषं प्रासादमारुरोह । वहाभ्रे लिहः' इति खश्प्रत्ययः । 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इति मुमागमः ।

व्याख्या—रघुप्रवीरः = रघुश्रेष्ठः, श्रीरामः । तस्यै = सीतायै । तत् = पूर्वोक्तम् । ईप्सितं = मनोरथम्, तपोगमनरूपम् । पतिश्रुत्य = स्वीकृत्य । पार्श्वचरानुयातः=अनुचरानुगतः सन् । मुदितां=आनन्दितां, प्राप्तहर्षाम् । अयोध्यां= साकेतनगरीम् । आलोकयिष्यन् = अवलोकयिष्यन् । अभ्रंलिहं = गगनचुम्बिनम् । प्रासादं=राजसदनम् । आरुरोह = आरूढवान् ।

समासः—प्रवीरयतीति प्रवीरः रघुषु रघूणां वा प्रवीरः रघुप्रवीरः । पार्श्वे चरतीति पार्श्वचरः पार्श्वचरेण अनुपातः पार्श्वचरानुपातः । आलोकयिष्यतीति आलोकयिष्यन् । अभ्रं लेढीति अभ्रंलिहः तमभ्रंलिहम् ।

भावार्थः—रघुकुलतिलको रामः जनकतनयायाः सीतायाः तपोवनगमनरूपं दोहदं स्वीकृत्य पार्श्वचरैरनुगतः हृष्टजनोपेताया अयोध्यानगर्याः शोभां द्रष्टुं गगनचुम्बिनं प्रासादमधिरुरोहेति भावः ।

भाषार्थ—रामजी ने कहा—अच्छी बात है । हम तुम्हें तपोवन में अवश्य

भेजेंगे, वे वहाँ से उठकर अपने सेवकों के साथ सुन्दर अयोध्या की छटा देखने के लिए गगनचुम्बी अपने राजभवन की छतपर जा चढ़े ॥ २९ ॥

ऋद्धापणं राजपथं स पश्यन्विगाह्यमानां सरयूं च नौभिः।
विलासिभिश्चाध्युषितानि पौरैः पुरोपकण्ठोपवनानि रेमे ॥ ३० ॥

अन्वयः—सः ऋद्धापणं राजपथं नौभिः विगाह्यमानां सरयूं च पश्यन् पौरैः विलासिभिः अध्युषितानि पुरोपकण्ठोपवनानि रेमे।

सञ्जी०— स रामः ऋद्धाः समृद्धा आपणाः पण्यभूमयो यस्मिंस्तं राजपथम्। नौभिः समुद्रवाहिनीभिर्विगाह्यमानां सरयूं च पौरैर्विलासिभिरध्युषितानि पुरोपकण्ठोपवनानि च पश्यन् रेमे। विलासिनश्च विलासिन्यश्च विलासिनः। "पुमान्स्त्रिया इत्येकशेषः।

व्याख्या--सः=श्रीरामः। ऋद्धापणं = समृद्धपण्यभूमिम्। राजपथं= राजमार्गम्। नौभिः=तरणिभिः समुद्रविगाहिनीभिः। विगाह्यमानाम्=आलोड्यमानाम् सरयूं=सरयूनाम्नीं नदीम्। पौरैः=नागरिकैः। विलासिभिः=विलसनशीलैर्गणैः। अध्युषितानि=आध्यासितानि। पुरोपकण्ठोपवनानि = नगरसमीपायां च पश्यन्=अवलोकयन्। रेमे=प्रीतो बभूव।

समासः—आ समन्तात् पणन्ते व्यवहरन्तीति जना येषु ते आपणाः ऋद्धा आपणा यस्मिन् स ऋद्धापणः तं ऋद्धापणम्। पथां राजा राजपथः, यद्वा राज्ञः पन्था राजपथः तं राजपथम्। विलास एषामस्तीति विलासिनः यद्वा विलसितुं शीलमेषां ते विलासिनः तैः विलासिभिः। पुरे भवाः पौराः तैः पौरैः पुरस्य उपकण्ठः पुरोपकण्ठः पुरोपकण्ठे उपवनानि इति पुरोपकण्ठोपवनानि तानि पुरोपकण्ठोपवनानि। विगह्यते इति विगाहमाना तां विगाहमानाम्।

भावार्थः—समृद्धापणं राजमार्गं, नौकाभिःसरयूनद्यांविहारंकुर्वतो विलासिनो नागरिकान् पुरोपवनेषु इतस्ततो भ्रमतः उपविष्टान् संल्लपतश्च सुखिनो जनान् अवलोकयन् श्रीरामः सर्वतः सुखपूर्णवातावरणेन परमं प्रमोदमवापेति भावः।

भाषार्थ—वहाँ से उन्होंने देखा कि राजमार्ग की दुकानें धन-धान्य से भरी हुई हैं, सरयू में नावें चल रही हैं और अयोध्या के उद्यानों में विलासी पुरवासी प्रसन्न होकर विलास कर रहे हैं ॥ ३० ॥

स किंवदन्तीं वदतां पुरोगः स्ववृत्तमुद्दिश्य विशुद्धवृत्तः।
सर्पाधिराजोरुभुजोऽपसर्पं पप्रच्छ भद्रं विजितारिभद्रः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—वदतां पुरोगः विशुद्धवृत्तः सर्पाधिराजोरुभुजः विजितारिभद्र सः स्ववृत्तम् उद्दिश्य भद्रं अपसर्पं किंवदन्तीं पप्रच्छ।

सञ्जी०—वदतां वाग्मिनां पुरोगः श्रेष्ठो विशुद्धवृत्तः सर्पाधिराजः शेषः तद्वद् गुरू भुजौ यस्य स विजितारिभद्रो विजितारिश्रेष्ठः स रामः स्ववृत्तमुद्दिश्य भद्रं भद्रनामकमपसर्पं चरं किंवदन्तीं जनवादं पप्रच्छ। 'अपसर्पश्चरः स्पशः' इति 'किंवदन्ती जनश्रुतिः' इति चामरः।

व्याख्या—वदतां=वक्तॄणां, वाग्मिनाम्। पुरोगः = अग्रसरः। विशुद्धवृत्तः= पवित्रचरित्रः। सर्पाधिराजोरुभुजः=शेषसमदीर्घबाहुः। विजितारिभद्रः=वशीकृत शत्रुकल्याणः। सः = श्रीरामः। स्ववृत्तं = आत्मचरित्रम्। उद्दिश्य = अधिकृत्य अनुद्य। भद्रं = भद्रनामकं अपसर्पं=गुप्तचरम्। किंवदन्तीं=जनवादम् लोककथनम् पप्रच्छ=पृष्टवान्।

समासः—पुरो गच्छतीति पुरोगः। विशुद्धं वृत्तं यस्य स विशुद्धवृत्तः। अधिको राजा अधिराजः सर्पाणामधिराजः सर्पाधिराजः सर्पाधिराजवत् ऊरू दीर्घौ भुजौ यस्य स सर्पाधिराजोरुभुजः। स्वस्य वृत्तं तत् स्ववृत्तम्। अरीणां भद्रं अरिभद्रं विजितम् अरिभद्रं येन स विजितारिभद्रः।

भावार्थः—वाग्मिप्रवरो विशुद्धवृत्त आजानुलम्बायमानबाहुः श्रीरामः भद्रनामकं गुप्तचरं मद्विषये कीदृशो जनवादः, इत्यपृच्छदिति भावः।

भाषार्थ—नगर की यह शोभा देखकर वक्ताओं में श्रेष्ठ सदाचारी और शेष के समान बड़ी बड़ी भुजाएँ और जंघाओंवाले शत्रुविजयी रामने अपने भद्रमुख नामक गुप्तचर से पूछा—'कहो भद्र! मेरे विषय में प्रजा क्या कहती है?' ॥ ३१ ॥

निर्बन्धपृष्टः स जगाद सर्वं स्तुवन्ति पौराश्चरितं त्वदीयम्।
अन्यत्र रक्षोभवनोषितायाः परिग्रहान्मानवदेव! देव्याः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—निर्बन्धपृष्टः स जगाद हे मानवदेव! रक्षोभवनोषितायाः देव्याः स्वीकारात् अन्यत्र त्वदीयं सर्वं चरितं पौराः स्तुवन्ति।

सञ्जी०—निर्बन्धेनाग्रहेण पृष्टः सोऽपसर्पो जगाद। किमिति? हे मानवदेव! रक्षोभवन उषिताया देव्याः सीतायाः परिग्रहात्स्वीकारान्यत्रेतरांशे। तं वर्जयित्वेत्यर्थः। त्वदीयं सर्वं चरितं पौराः स्तुवन्ति।

व्याख्या—निर्बन्धपृष्टः=आग्रहानुयुक्तः। सः=भद्रनामाऽपसर्पः हे मानवदेव! हे मनुष्येश्वर महाराज! रक्षोभवनोषितायाः = रावणगृहे कृतवासायाः देव्याः= कृताभिषेकायाः सीतायाः। परिग्रहात् = स्वीकारात्। अन्यत्र = इतरांशे।

त्वदीयं=भवदीयम् । सर्वं=निखिलम् । चरितं=वृत्तम् । पौराः=नगरवासिनः । स्तुवन्ति=प्रशंसन्ति, श्लाघन्ते इति जगाद=बभाषे ।

समासः—निर्बन्धेन पृष्टः निर्बन्धपृष्टः । मनोरपत्यानि पुंमासो मानवाः मानवेषु देवः मानवदेवः तत्सम्बुद्धौ हे मानवदेव ! । रक्षसो भवनं रक्षोभवनं रक्षोभवने उषिता रक्षोभवनोषिता तस्या रक्षोभवनोषितायाः । पुरे भवाः पौराः । तव इदं त्वदीयं तत् त्वदीयम् ।

भावार्थः—श्रीरामेण आग्रहपूर्वकं पृष्टः स भद्रको गुप्तचरः महाराज ! अयोध्यानगरनिवासिनो जना लङ्कायां रावणगृहे स्थितायाः सीतादेव्याः स्वीकारं वर्जयित्वा भवदीयं सर्वं चरित्रं प्रशंसन्तीति बभाषे ।

भाषार्थ—पहले तो वह चुप रहा, पर राम के आग्रहपूर्वक पूछे जाने पर वह बोला – हे मानवदेव ! जनता आपकी सब बातों की प्रशंसा करती है, किन्तु आपने राक्षस रावण के घर में रहनेवाली सीता को ग्रहण कर लिया, इसे लोग अच्छा नहीं समझते ।। ३२ ।।

कलत्रनिन्दागुरुणा किलैवमभ्याहतं कीर्तिविपर्ययेण ।
अयोघनेनाय इवाभितप्तं वैदेहिबन्धोर्हृदयं विदद्रे ।। ३३ ।।

अन्वयः—एवं किल कलत्रनिन्दागुरुणा कीर्तिविपर्ययेण अभ्याहतं वैदेहिबन्धोः हृदयं अयोघनेन अभितप्तं अय इव विदद्रे ।

सञ्जी०—एवं किल कलत्रनिन्दया गुरुणा दुर्वहेण कीर्तिविपर्ययेणापकीर्त्याभ्याहतं वैदेहिबन्धोर्वैदेहिवल्लभस्य । 'ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्' इति ह्रस्वः । कालिदास इतिवत् । हृदयम् अयोघनेनाभितप्तं सन्तप्तमय इव । विदद्रे विदीर्णम् । कर्तरि लिट् ।

व्याख्या—एवम् = इत्थम् । किल = निश्चयेन । कलत्रनिन्दागुरुणा=पत्न्यपवाददुर्वहेण । कीर्तिविपर्ययेण = अयशसा । अभ्याहतं = ताडितम् । वैदेहिबन्धोः= सीतावल्लभस्य=श्रीरामस्य । हृदयं=चित्तम् । अयोघनेन=लौहघनेन । अभ्याहतं= ताडितम् । अभितप्तं=सन्तप्तम् । अय इव=लोहमिव । विदद्रे=विदीर्णम् ।

समासः—कलत्रस्य निन्दा कलत्रनिन्दा, कलत्रनिन्दया गुरुः कलत्रनिन्दागुरुः तेन कलत्रनिन्दागुरुणा । कीर्तेः विपर्ययः कीर्तिविपर्ययः तेन कीर्तिविपर्ययेण । विदेहस्यापत्यं स्त्रीः वैदेही वैदेह्या बन्धूः वैदेहिबन्धुः तस्य वैदेहिबन्धोः । अयसः घनमयोघनं तेन अयोघनेन ।

भावार्थः—धर्मपत्न्याः सीतायाः यशोविरुद्धामपकीर्तिमाकर्ण्य भगवतो रामस्य हृदयं तथा विदीर्णं यथा अयोघनेन प्रताडितं सन्तप्तं लोहं विदीर्णं भवतीति भावः।

भावार्थ—इस प्रकार अपनी पत्नी पर लगाये गये इस भीषण कलंक को सुनकर सीतापति राम का हृदय वैसे ही फट गया, जैसे घन की चोट से तपाया हुआ लोहा फट जाता है ॥ ३३ ॥

किमात्मनिर्वादकथामुपेक्षे जायामदोषामुत संत्यजामि ।
इत्येकपक्षाश्रयविक्लवत्वादासीत्स दोलाचलचित्तवृत्तिः ॥ ३४ ॥

अन्वयः—आत्मनिर्वादकथां उपेक्षे उत अदोषां जायाम् संत्यजामि इति एकपक्षाश्रयविक्लवत्वात् सः दोलाचलचित्तवृत्तिः आसीत् ।

सञ्जी०—आत्मनो निर्वादोऽपवाद एव कथा तां किमुपेक्षे उत अदोषां साध्वीं जायां सन्त्यजामि। उभयत्रापि प्रश्ने लट् । इत्येकपक्षाश्रयेऽन्यतरपक्षपरिग्रहे विक्लवत्वादपरिच्छेत्तृत्वात्स रामो दोलेव चला चित्तवृत्तिर्यस्य स आसीत् ।

व्याख्या—आत्मनिर्वादकथां=लोकापवादचर्चाम् । किम् उपेक्षे=अवहेलयामि किम् ? उत=अथवा । अदोषां=निर्दोषां साध्वीम् । जायां=धर्मपत्नीं सीताम्। सन्त्यजामि = निराकरोमि त्यजामि । इति = इत्थम् । एकपक्षाश्रयविक्लवत्वात् = अन्यतरपक्षपरिग्रहविह्वलत्वात् । सः=श्रीरामः । दोलाचलचित्तवृत्तिः= प्रेङ्खलासमचञ्चलमनोनिवृत्तिः । आसीत्=अभूत् ।

समासः—निर्वादस्य कथा निर्वादकथा आत्मनो निर्वादकथा आत्मनिर्वादकथा ताम् आत्मनिर्वादकथाम् । न विद्यते दोषो यस्यां सा अदोषा ताम् अदोषाम्। एकश्चासौ पक्षः एकपक्षः एकपक्षस्य आश्रयः एकपक्षाश्रयः एकपक्षाश्रये विक्लवः एकपक्षाश्रयविक्लवः एकपक्षाश्रयविक्लवस्य भावः एकपक्षाश्रयविक्लवत्वं तस्मात् एकपक्षाश्रयविक्लवत्वात् । चित्तस्य वृत्तिः चित्तवृत्तिः दोलावत् चला चित्तवृत्तिः यस्य सः दोलाचलचित्तवृत्तिः ।

भावार्थः—सीतापवादचर्चाया उपेक्षां कुर्याम् ? आहोस्वित् निर्दोषां गर्भवतीं सतीं सीतां परित्यजेयम् इति अनयोः पक्षयोः एकग्रहणेऽपि महान्तं सङ्कटमनुभवतः श्रीरामस्य चित्तवृत्तिः दोलावत् चञ्चला अभवत् । अर्थात् क्षणपर्यन्तमुभयत्रैकं किमपि निश्चेतुं न शशाकेति भावः ।

भाषार्थ—वे अपने मन में सोचने लगे कि अब दो ही उपाय हैं, या तो मैं इस बात को अनसुनी कर दूँ और टाल दूँ या निर्दोष सीता को सदा के लिए छोड़ दूँ।

उस समय उनका चित्त डाँवाडोल हो गया, क्योंकि वह निश्चय ही नहीं कर पा रहे थे कि क्या करूँ ? ॥ ३४ ॥

निश्चित्य चानन्यनिवृत्ति वाच्यं त्यागेन पत्न्याः परिमार्ष्टुमैच्छत् ।
अपि स्वदेहात्किमुतेन्द्रियार्थाद्यशोधनानां हि यशो गरीयः ॥ ३५ ॥

अन्वयः — वाच्यम् अनन्यवृत्ति निश्चित्य पत्न्या त्यागेन परिमार्ष्टुं ऐच्छत् हि यशोधनानां पुंसां स्वदेहादपि यशो गरीयः इन्द्रियार्थात् किमुत ? ।

सञ्जी० — किंच, वाच्यमपवादम् नास्त्यन्येन त्यागातिरिक्तोपायेन निवृत्तिर्यस्य तदनन्यनिवृत्ति । निश्चित्य पत्न्यास्त्यागेन परिमार्ष्टुं परिहर्तुमैच्छत् । तथाहि यशोधनानां पुंसां स्वदेहादपि यशो गरीयो गुरुतरम् । इन्द्रियार्थात्स्रक्चन्दनवनितादेरिन्द्रियविषयाद्गरीय इति किमुत वक्तव्यम्। 'पञ्चमो विभक्ते' इत्युभयत्रापि पञ्चमी । सीता चेन्द्रियार्थं एव ।

व्याख्या — वाच्यं = लोकापवादात्मिकां निन्दाम् । अनन्यनिवृत्ति = अनपरनिवर्तनम्, त्यागादृते निवृत्तिरहितम् । निश्चित्य = निर्णीय । पत्न्याः = जायायाः त्यागेन = विसर्गेण । परिमार्ष्टुं=परिहर्तुम् । ऐच्छत्=इष्टवान् । हि=यतः । यशोधनानां = कीर्तिद्रव्याणाम् ख्यातिकामिनां जनानाम् । स्वदेहादपि = आत्मशरीरादपि । यशः=कीर्तिः । गरीयः = गुरुतरम् । एवं स्थिते इन्द्रियार्थात् = इन्द्रियविषयात्, स्रक्चन्दनवनितादेः । यशो गरीय इति किमुत=किं वक्तव्यम् ।

समासः— अन्येन निवृत्तिः यस्य तत् अन्यनिवृत्ति न अन्यनिवृत्तिः अनन्यनिवृत्तिः । यश एव धनं येषां ते यशोधनाः तेषां यशोधनानाम् । स्वस्य देहः स्वदेहः तस्मात् स्वदेहात् । इन्द्रियाणामर्थः इन्द्रियार्थः तस्मात् इन्द्रियार्थात् । वक्तुं योग्यं वाच्यम् ।

भावार्थः— श्रीरामः क्षणमात्रानन्तरमुपायान्तराभावात् लोकापवाद सीतायाः परित्यागेन परिमार्ष्टुमिष्टवान् । यतो हि यशोधराणाम् आत्मशरीरादपि यशो गुरुतरं किमुत इन्द्रियविषयात् स्रक्चन्दनवनितादेरिति भावः ।

भाषार्थ— किन्तु उस कलंक को मिटाने का कोई दूसरा मार्ग नहीं था इसलिए उन्होंने निश्चय कर लिया कि सीता को त्यागकर ही यह कलंक मिटाना चाहिए, क्योंकि यशस्वियों को अपना यश अपने शरीर से भी अधिक प्यारा है, फिर स्त्री आदि भोग की वस्तुओं की तो बात ही क्या है ? ॥ ३५ ॥

स सन्निपात्यावरजान् हतौजास्तद्विक्रियादर्शनलुप्तहर्षान् ।
कौलीनमात्माश्रयमाचचक्षे तेभ्यः पुनश्चेदमुवाच वाक्यम् ॥ ३६ ॥

अन्वयः—हतौजाः सः तस्य विक्रियादर्शनलुप्तहर्षान् अवरजान् सन्निपात्य आत्माश्रयं कौलीनं तेभ्यः आचचक्षे पुनः च इदं वाक्यं उवाच ।

सञ्जी० – हतौजाः निस्तेजस्कः स रामस्तस्य रामस्य विक्रियादर्शनेन लुप्तहर्षानवरजान् संनिपात्य संगमय्यात्माश्रयं स्वविषयकं कौलीनं निन्दां तेभ्य आचचक्षे । पुनरिदं वाक्यमुवाच ।

व्याख्या – हतौजाः=निस्तेजस्कः । सः = रामः । तद्विक्रियादर्शनलुप्तहर्षान्= राममुखविकारविलोकनापगतहर्षान् । अवरजान्=भरतलक्ष्मणशत्रुघ्नान् अनुजान् भ्रातॄन् सन्निपात्य=सङ्गमय्य, एकत्रीकृत्य, आहूय । आत्माश्रयं = निजविषयकं स्वविषयकम् कौलीनं=जनापवादम् । तेभ्यः=अवरजेभ्यः । आचचक्षे=आख्यातवान्। पुनः=भूयः । इदं=वक्ष्यमाणं वुद्धिस्थम् । वाक्यं=वचनम् । उवाच = अब्रवीत् ।

समास—तस्य विक्रिया तद्विक्रिया तद्विक्रियाया दर्शनं तद्विक्रियादर्शनं तद्विक्रियादर्शनेन लुप्तः हर्षो येषां ते तद्विक्रियादर्शनलुप्तहर्षाः तान् तद्विक्रियादर्शनलुप्तहर्षान् । हतमोजो यस्य स हतौजाः । अवरं जाता अवरजाः तान् अवरजान्। आत्मा आश्रयः यस्य तत् आत्माश्रयम् ।

भावार्थः--निस्तेजस्को रामः राममुखविकारविलोकनेन विगतहर्षान् भरतलक्ष्मणशत्रुघ्नान् अनुजान् आहूय तेभ्यः स्वविषयकं लोकापवादं कथयामास, पुनः निजनिर्णयमपि श्रावितवानिति भावः ।

भाषार्थ--उदास मुख से राम ने छोटे भाइयों को बुलाया, तो वे भी उनकी दशा देखकर सन्न रह गये । वे अपने विषय में होनेवाली निन्दा को उनसे कहकर पुनः यह वचन बोले ॥ ३६ ॥

राजर्षिवंशस्य रविप्रसूतेरुपस्थितः पश्यत कीदृशोऽयम् ।
मत्तः सदाचारशुचेः कलङ्कः पयोदवातादिव दर्पणस्य ॥ ३७ ॥

अन्वयः---रविप्रसूतेः राजर्षिवंशस्य सदाचारशुचेः मत्तः दर्पस्य पयोदवातात् इव कीदृशः अयं कलङ्कः उपस्थितः (इति) पश्यत ।

सञ्जी०--रवेः प्रसूतिर्जन्म यस्य तस्य राजर्षिवंशस्य सदाचारशुचेः सद्वृत्ताच्छुद्धान्मत्तो मत्सकाशात् दर्पणस्य पयोदवातादिव । साम्भःकणादित्यर्थः। कीदृशोऽयं कलङ्क उपस्थितः प्राप्तः पश्यत ।

व्याख्या—हे भ्रातरः ! रविप्रसूतेः = सूर्यप्रभवस्य । राजर्षिवंशस्य = ऋषितुल्यनृपवंशस्य इक्ष्वाकुकुलस्य । सदाचारशुचेः = सच्चरित्रपवित्रात् । मत्तः = मत्सकाशात् । दर्पणस्य=मुकुरस्य । पयोदवातात् = मेघवायोरिव, जलकणिका-

युक्तपवनात् । कीदृशः = कीदृग्विधः । अयं = एषः । कलङ्कः = लोकापवादः । उपस्थितः = आगतः इति पश्यत = अवलोकयत ।

समासः—रवेः प्रसूतिः यस्य स रविप्रसूतिः तस्य रविप्रसूतेः । राजानश्च ते ऋषयः राजर्षयः राजर्षीणां वंशः राजर्षिवंशः तस्य राजर्षिवंशस्य । सन्तश्च ते आचारा सदाचाराः यद्वा सतामाचाराः सदाचाराःसदाचारैः शुचिः सदाचारशुचिः तस्मात् सदाचारशुचेः । पयो ददातीति पयोदः पयोदस्य वातः पयोदवातः तस्मात् पयोदवातात् ।

भावार्थः—हे भ्रातरः । सूर्योत्पन्नस्य सदाचारपूतस्य राजर्षिणा इक्ष्वाकुणा प्रवर्तितस्य कुलस्य विमले दर्पणे वर्षाकालिकजललवयुक्तात् वायोः मालिन्यमिव मत्सकाशादेषः कलङ्कः समुपस्थित इति यूयं विचारयतेति भावः ।

भाषार्थ—यद्यपि मैं सदाचारी होने के कारण निष्कलंक हूँ, फिर भी जैसे भाप पड़ने से दर्पण धुँधला हो जाता है, वैसे ही देखो, सूर्यवंशी राजाओंके कुल में मेरे कारण कैसा अकल्पनीय कलंक लग रहा है ॥ ३७ ॥

पौरेषु सोऽहं बहुलीभवन्तमपां तरङ्गेष्विव तैलबिन्दुम् ।
सोढुं न तत्पूर्वमवर्णमीशे आलानिकं स्थाणुमिव द्विपेन्द्रः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—सः अहं अपां तरङ्गेषु तैलबिन्दुम् इव पौरेषु बहुलीभवन्तं तत्पूर्वमवर्णं द्विपेन्द्रः आलानिकं स्थाणुं इव सोढुं न ईशे ।

सञ्जी०—सोऽहम् । अपां तरङ्गेषु तैलबिन्दुमिव, पौरेषु बहुलीभवन्तं प्रसरन्तं स एव पूर्वो यस्य स तं तत्पूर्वमवर्णमवादम् । 'अवर्णक्षेपनिर्वादपरीवादापवादवत्' इत्यमरः । द्विपेन्द्रः । आलानमेवालानिकम् । विनयादित्वात्स्वार्थे ठक् । अथवाऽऽलानं बन्धनं प्रयोजनमस्येत्यालानिकम् । 'प्रयोजनम्' इति ठक् । स्थाणुं स्तम्भमिव, चूतवृक्ष इतिवत्सामान्यविशेषभावादपौनरुक्त्यं द्रष्टव्यम् । सोढुं नेशे । न शक्नोमि ।

व्याख्या—सः = तादृशः, जातापवादोऽहम्=रामः । अपां=जलस्य तरङ्गेषु= ऊर्मिषु भङ्गेषु । तैलबिन्दुमिव=तैलकणं यथा पौरेषु=नागरिकेषु । बहुलीभवन्तं= प्रसरन्तम् । तत्पूर्वं=प्राथमिकम् । अवर्णम् = अपवादम् । द्विपेन्द्रः=गजेन्द्रः, आलानिकम्=बन्धनरूपम् । स्थाणुमिव=स्तम्भमिव । सोढुं=मर्षितुं न ईशे=न शक्नोमि ।

समासः—तिलस्य विकारः तैलम् तैलस्य बिन्दुः तैलबिन्दुः तं तैलबिन्दुम् । न बहुलः अबहुलः अबहुलो बहुलो भवन् बहुलीभवन् तं बहुलीभवन्तम् । स एव पूर्वः यस्य स तत्पूर्वः तं तत्पूर्वम् । आलानमेव आलानिकः तम् आलानिकम् ।

भावार्थः—प्रजावर्गे कर्णाकर्णिकया जलप्रवाहे तैलबिन्दुमिव प्रसरन्तं प्रथममापतितमेनं जनतापवादरूपं कलङ्कं गजेन्द्रस्य बन्धनस्तम्भमिवाहं सोढुं न शक्नोमीति भावः।

भाषार्थ—जिस प्रकार पानी की तरंगों के ऊपर तेल की बूंद फैल जाती है उसी प्रकार इस समय घर-घर मेरी निन्दा फैल रही है। इस सर्वप्रथम अपयश को मैं उसी प्रकार सहने में असमर्थ हूँ, जिस प्रकार गजराज पहले पहल बाँधनेवाले खूटों को सहने में असमर्थ होता है॥ ३८॥

तस्यापनोदाय फलप्रवृत्तावुपस्थितायामपि निर्व्यपेक्षः।
त्यक्ष्यामि वैदेहसुतां पुरस्तात्समुद्रनेमिं पितुराज्ञयेव॥ ३९॥

अन्वयः—तस्य अपनोदाय फलप्रवृत्तौ उपस्थितायां अपि निर्व्यपेक्षः (सन्) वैदेहसुतां पुरस्तात् पितुः आज्ञया समुद्रनेमिं इव त्यक्ष्यामि।

सञ्जी०—तस्यावर्णस्यापनोदाय दूरीकरणाय फलप्रवृत्तावपत्योत्पत्तावुपस्थितायां सत्यामपि निर्व्यपेक्षो निःस्पृहः सन्। वैदेहसुतां पुरस्तात्पूर्वं पितुराज्ञया समुद्रनेमिं समुद्रो नेमिरिव नेमिर्यस्यः सा भूमिः तामिव त्यक्ष्यामि।

व्याख्या—तस्य=अवर्णस्य जनापवादस्य। अपनोदनाय = दूरीकरणाय, मार्जनाय, फलप्रवृत्तौ = अपत्योत्पत्तौ, पुत्रजन्मनि। उपस्थितायामपि=सन्निहितायामपि, निकटवर्तिन्यामपि। निर्व्यपेक्ष.=निःपृहः, गताभिलाषः सन्। वैदेहसुतां= जनकतनयां सीताम्। पुरस्तात्=पूर्वम्। पितुः=तातस्य दशरथस्य। आज्ञया= आदेशेन। समुद्रनेमिम् इव=उदधिमेखलां सागरान्तां पृथिवीमिव। त्यक्ष्यामि= हास्यामि मोक्ष्यामि।

समासः—फलस्य प्रवृत्तिः फलप्रवृत्तिः तस्यां फलप्रवृत्तौ। व्यपेक्षायाः निष्क्रान्तः निर्व्यपेक्षः। विदेहानां राजा वैदहः वैदेहस्य सुता वैदेहसुता तां वैदेहसुताम्। समुद्रो नेमिः यस्याः सा समुद्रनेमिः तां समुद्रनेमिम्।

भावार्थ—कर्णपरम्पया जले तैलबिन्दोरिव प्रसृतस्य तस्य जनतापवादस्य मार्जनाय आसन्नप्रसवां विशुद्धामपि जानकीं तातस्यादेशेन परित्यक्तां सागरान्तामूर्वीमिवाहं परित्यक्ष्यामीति भावः।

भाषार्थः—इस समय यद्यपि सीता का पुत्ररूप फल होनेवाला है, तो भी इस कलंक को मिटाने के लिए सब माया-मोह तोड़कर उसे वैसे ही छोड़ दूँगा जैसे पिता की आज्ञा से समुद्रपर्यन्त पृथ्वी को छोड़ दिया था॥ ३९॥

ननु सर्वथा साध्वी न त्याज्येत्याह—

अवैमि चैनामनघेति किन्तु लोकापवादो बलवान्मतो मे।
छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वेनारोपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः ॥ ४० ॥

अन्वयः—एनाम् अनघा इति अवैमि किन्तु मे लोकापवादः बलवान् मतः हि प्रजाभिः भूमेः छाया शुद्धिमतः शशिनः मलत्वेन आरोपिता।

सञ्जी०—एनां सीतामनघा साध्वीति चावैमि किंतु मे मम लोकापवादो बलवान्मतः। कुतः? हि यस्मात्प्रजाभिर्भूमेश्छाया प्रतिबिम्बं शुद्धिमतो निर्मलस्य शशिनो मलत्वेन कलङ्कत्वेनारोपिता। अतो लोकापवाद एव बलवानित्यर्थः।

व्याख्या—एनां = जानकीम्। अनघा = सर्वथा निर्दोषा निष्पापा। इति च अवैमि = जानामि। किन्तु = परन्तु। मे = मम रामस्य। लोकापवादः = जनवादः। बलवान् = प्रबलः। मतः=अभिमतः। हि=यतः। प्रजाभिः = जनैः भूमेः = पृथिव्याः। छाया = प्रतिबिम्बम्। शुद्धिमतः = निर्मलस्य। शशिनः= चन्द्रमसः। मलत्वेन = कलङ्कत्वेन। आरोपिता = कृतारोपा, वक्त्रपरम्परया प्ररूढिङ्गता। नाद्यापि मार्ज्यते इत्यर्थः।

समासः—न विद्यते अघं यस्यां सा अनघा। लोकानामपवादः लोकापवादः। बलमस्तीति बलवान्। शशोऽस्तीति शशिः तस्य शशिनः। शुद्धिरस्यास्तीति शुद्धिमान् तस्य शुद्धिमतः। मलस्य भावः मलत्वं तेन मलत्वेन।

भावार्थः—भ्रातरः! एषा जनकतनया सीता सर्वथा निर्दोषा, इत्यहं नूनं जानामि, किन्तु मम मते स्वप्रत्ययादपि लोकापवादा बलवत्तरो दृश्यते। हि लोके निर्मलेऽपि चन्द्रमसि पृथिव्याः पतितं प्रतिबिम्वं कलङ्कत्वेन उत्प्रेक्ष्यते जनैः। अतो जनानने कः करमर्पयिष्यतीत्यनुसारं निष्पापाया अपि सीतायाः त्याग एवास्ति श्रेयस्कर इति भावः।

भाषार्थ—मैं जानता हूँ कि सीता निर्दोष है पर लोकनिन्दा को मैं सत्य से भी बड़ा मानता हूँ, देखो निर्मल चन्द्रबिम्व के ऊपर पड़ी हुई पृथ्वी की छाया को लोग चन्द्रमा का कलंक कहते हैं और असत्य होने पर भी सारा संसार उसे सत्य मानता है ॥ ४० ॥

रक्षोवधान्तो न च मे प्रयासो व्यर्थः स वैरप्रतिमोचनाय।
अमर्षणः शोणितकाङ्क्षया किं पदा स्पृशन्तं दशति द्विजिह्वः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—मे रक्षोवधान्तः प्रयासः व्यर्थः न च (किन्तु) स वैरप्रतिमोचनाय। (हि) अमर्षणः द्विजिह्वः पदा स्पृशन्तं शोणितकांक्षया दशति किम्।

सञ्जी०—किंच, मे रक्षोवधान्तः प्रयासो व्यर्थो न किंतु स वैरप्रतिमोचनाय वैरशोधनाय। तथा हि अमर्षणोऽसहनो द्विजिह्वः सर्पः पदा पादेन स्पृशन्तं पुरुषं शोणितकांक्षया दशति किम् ? किंतु वैरनिर्यातनायेत्यर्थः।

व्याख्या—हे भ्रातरः ! मे = मम। रक्षोबधान्तः = रावणहननावसानः। प्रयासः=प्रयत्नः, परिश्रमः व्यर्थः = निष्फलो न जातः। किन्तु सः = प्रयासः। वैरप्रतिमोचनाय = विरोधशोधनाय। हि अमर्षणः = असहनः। द्विजिह्वः=सर्पः। पदा = पादेन। स्पृशन्तं = आमृश्यन्तं पुरुषम्। शोणितकाङ्क्षया = रुधिराभिलाषेण। दशति किम्=वृश्चति किम् ? न स वैरप्रतिमोचनायैव दशतीत्यर्थः।

समासः—रक्षसां वधः रक्षोवधः रक्षोवधः अन्तो यस्य स रक्षोवधान्तः। वैरस्य प्रतिमोचनं वैरप्रतिमोचनं तस्मै वैरप्रतिमोचनाय। शोणितस्य कांक्षा शोणितकाक्षां तया शोणितकाङ्क्षया। द्वे जिह्वे यस्य स द्विजिह्वः। न मर्षणः अमषणः।

भावार्थः—भ्रातरः ! यदि जानकी परित्यक्तव्यैव तर्हि समुद्रे सेतुबन्धनरावणवधादिप्रयासो व्यर्थं इति नाङ्कनीयः। यतो हि स प्रयासः दशाननद्वारा छलपूर्वकं कृतस्य सीतापहरणस्य प्रतिशोधरूपतया सफलोऽजायत। नहि नागा पादैः प्रहरतो पुरुषान् रुधिरपिपासया प्रतिदशन्ति, अपितु तत्कृतस्य तिरस्कारस्य प्रतिकारार्थमेव ते तथा कुर्वन्ति। अतएव 'कृते च प्रतिकर्तव्यमेष धर्मः सनातनः' इति संगच्छते इति भावः।

भाषार्थ—यदि यह कहो कि ऐसा ही था तो राक्षसों को क्यों मारा? इसका उत्तर यह है कि सीता को छुड़ाने के लिए मैंने जो राक्षसों को मारा वह मेरा प्रयत्न सीता को निकाल देने से व्यर्थ नहीं हो जायेगा, क्योंकि वह तो विरोध का बदला लेने का था, जब कोई साँप पैर के नीचे दब जाता है, तब वह रक्त के लोभ से थोड़े ही डँसता है, वह तो बदला लेने के लिए ही डँसता है।४१।

तदेष सर्गः करुणार्द्रचित्तैर्न मे भवद्भिः प्रतिषेधनीयः।
यद्यर्थिता निर्हृतवाच्यशल्यान्प्राणान्मया धारयितुं चिरं वः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—तत् एष मे सर्गः करुणार्द्रचित्तैः भवद्भिः न प्रतिषेधनीयः निर्हृतवाच्यशल्यान् प्राणान् चिरं धारयितुं वः अर्थिता यदि (अस्ति)।

सञ्जी०—तत्तस्मादेष मे सर्गो निश्चयः 'सर्गः स्वभावनिर्मोक्षनिश्चयाध्यायसृष्टिषु' इत्यमरः। करुणार्द्रचित्तैर्भवद्भिर्न प्रतिषेधनीयः, निर्हृतं वाच्यमेव शल्यं येषां तान्प्राणान्मया चिरं धारयितुं धारणं कारयितुं वो युष्माकमर्थितार्थित्वमिच्छा यदि अस्तीति शेषः।

व्याख्या—तत्=तस्मात् कारणात्। निर्हृतवाच्यशल्यान्=अपहृतापवादकीलकान्। प्राणान्=असून्। मया=रामेण। चिरं=बहुकालपर्यन्तम्। धारयितुं=स्थापयितुम्, वाहयितुम्। वः=युष्माकम्। अर्थिता=अर्थित्वम् याच्ञा, इच्छा। यदि=चेत् तर्हि। एषः=प्रस्तुतः। मे=मम। सर्गः=निश्चयः, सीतापरित्यागरूपः। करुणार्द्रचित्तैः=दयाक्लिन्नमनोभिः। भवद्भिः=युष्माभिः। न प्रतिषेधनीयः=नो निवारणीयः।

समासः—करुणया आर्द्रं चित्तं येषां ते करुणार्द्रचित्ताः तैः करुणार्द्रचित्तैः। अर्थिनां भावः अर्थिता। वक्तुमर्हं वाच्यं वाच्यमेव शल्यं वाच्यशल्यं निर्हृतं वाच्यशल्यं येभ्यः ते निर्हृतवाच्यशल्यास्तान् निर्हृतवाच्यशल्यान्।

भावार्थः—हे भ्रातरः! यदि युष्माभिः अपगतलोकापवादस्य मम जीवनं चिरकालपर्यन्तमिष्यते तर्हि करुणापरायणैः भवद्भिः अस्मात् सीतापरित्यागनिर्णयात् नाहं निवारणीयः। 'सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते' इति नीत्यनुसारं कलङ्कितजीवनधारणापेक्षया मरणमेव कल्याणकरमिति भावः।

भाषार्थ—इसलिए यदि तुम लोग इस कलंक के बाण को मेरे हृदय से निकालकर मुझे जीवित रखना चाहते हो तो करुणार्द्र हृदय होकर मेरे इस निश्चय का निषेध न करो, क्योंकि ऐसी निन्दा होने पर, मैं जीने की अपेक्षा मर जाना अच्छा समझता हूँ॥ ४२॥

इत्युक्तवन्तं जनकात्मजायां नितान्तरूक्षाभिनिवेशमीशम्।
न कश्चन भ्रातृषु तेषु शक्तो निषेद्धुमासीदनुमोदितुं वा॥ ४३॥

अन्वयः—इति उक्तवन्तं जनकात्मजायां नितान्तरूक्षाभिनिवेशं ईशं तेषु कश्चन अपि निषेद्धुं अनुमोदितुम् वा शक्तः नासीत्।

सञ्जी०—इत्युक्तवन्तं जनकात्मजायां विषये नितान्तरूक्षाभिनिवेशमतिक्रूराग्रहमीशं स्वामिनं तेषु भ्रातृषु मध्ये कश्चनापि निषेद्धुं निवारयितुमनुमोदितुं प्रवर्तयितुं वा शक्तो नासीत्। पक्षद्वयस्यापि प्रबलत्वादित्यर्थः।

व्याख्या—इति=इत्थम्। उक्तवन्तं=कथितवन्तम्। जनकात्मजायां=जनकतनयायां सीतायाम् विषये। नितान्तरूक्षाभिनिवेशं=अतिकठोराग्रहम्। ईशं=स्वामिनं श्रीरामम्। तेषु=त्रिषु। भ्रातृषु=अवरजेषु भरतलक्ष्मणशत्रुघ्नेषु मध्ये। कश्चन=कोऽपि अन्यतमोऽपि। निषेद्धुं=वारयितुम्। अनुमोदितुं=मन्तुं समर्थयितुं प्रवर्तयितुं वा। शक्तः=समर्थः। न आसीन्=न अभवत्।

समासः—जनकस्य आत्मजा जनकात्मजा तस्यां जनकात्मजायाम्। नितान्तं रूक्षो नितान्तरूक्षः, नितान्तरूक्षः अभिनिवेशो यस्य स नितान्तरूक्षाभिनिवेशः तं नितान्तरूक्षाभिनिवेशम्।

भावार्थः—इत्थं सीताविषयेऽत्यन्तनिष्ठुराग्रहवन्तं भगवन्तं श्रीरामं त्रयाणामनुजानां भरत लक्ष्मण-शत्रुघ्नानां मध्येऽन्यतमोऽपि भ्राता निषेद्धुमनुमन्तुं वोभयत्रापि न समर्थो जातः। सर्वेऽपि विषण्णवदनारविन्दा मौनमास्थिताः इति भावः। अपगतलोकापवादस्य श्रीरामस्य चिरजीवित्वं, सीतायाश्च प्रासादस्थितिश्चेत्युभयोः समानतयाऽभीप्सितत्वादिति भावः।

भाषार्थ—इस प्रकार कहते हुए सीता के सम्बन्ध में अत्यन्त कठोर निश्चय किये हुए राम को भाइयों में से, न तो कोई उनका समर्थन ही कर सका, न विरोध ही॥

स लक्ष्मणं लक्ष्मणपूर्वजन्मा विलोक्य लोकत्रयगीतकीर्तिः।
सौम्येति चाभाष्य यथार्थभाषी स्थितं निदेशे पृथगादिदेश॥ ४४॥

अन्वयः—लोकत्रयगीतकीर्तिः यथार्थभाषी लक्ष्मणपूर्वजन्मा सः निदेशे स्थितं लक्ष्मणं विलोक्य हे सौम्य! इति आभाष्य च पृथक् आदिदेश।

सञ्जी०—लोकत्रयगीतकीर्तिर्यथार्थभाषी लक्ष्मणपूर्वजन्मा लक्ष्मणाग्रजः स रामो निदेशे स्थितमाज्ञाकारिणं लक्ष्मणं विलोक्य 'हे सौम्य! सुभग!' इत्याभाष्य च पृथग्भरतशत्रुघ्नाभ्यां विनाकृत्यादिदेशाज्ञापयामास।

व्याख्या—लोकत्रयगीतकीर्तिः = त्रैलोक्ये प्रख्यातयशाः। यथार्थभाषी= सत्यवादी। लक्ष्मणपूर्वजन्मा = लक्ष्मणाग्रजः। सः=श्रीरामः। निदेशे = आदेशे। स्थितं = विद्यमानम्, आज्ञाकारिणम्। लक्ष्मणं = सौमित्रिम्। विलोक्य=अवेक्ष्य, दृष्ट्वा। हे सौम्य!=अये सज्जन! इति = इत्थम्। आभाष्य = सम्बोध्य, उक्त्वा च। पृथक्=भरतशत्रुघ्नाभ्यां पृथक्कृत्य। आदिदेश=आज्ञातवान्।

समासः—लक्ष्मणात् पूर्वं जन्म यस्य स लक्ष्मणपूर्वजन्मा। लोकानां त्रयं लोकत्रयं लोकत्रये गीता कीर्तिर्यस्य स लोकत्रयगीतकीर्तिः। अर्थमनतिक्रम्य वर्तते इति यथार्थम् यथार्थं भाषते इति यथार्थभाषी।

भावार्थः—विश्वविश्रुतयशाः तथ्यवक्ता लक्ष्मणाग्रजः श्रीरामः आज्ञाकारिणमनुजं लक्ष्मणवेक्ष्य भरतशत्रुघ्नाभ्यां पृथक् कृत्वा तमेवादिदेशेति भावः।

भाषार्थ—तीनों लोकों में प्रसिद्ध यशस्वी यथार्थवक्ता और लक्ष्मण के बड़े भाई राम ने जब देखा कि केवल लक्ष्मण उनकी आज्ञा मानने को तत्पर है, तब उन्होंने लक्ष्मण से हे सौम्य! कहकर उन्हें एकान्त में ले जाकर कहा॥ ४४॥

प्रजावती दोहदशंसिनी ते तपोवनेषु स्पृहयालुरेव।
स त्वं रथी तद्व्यपदेशनेयां प्रापय्य वाल्मीकिपदं त्यजैनाम्॥ ४५॥

अन्वय—दोहदशंसिनी ते प्रजावती तपोवनेषु स्पृहयालुः एव सः त्वं रथी (सन्) तद्व्यपदेशनेयाम् एनां वाल्मीकिपदं प्रापय्य त्यज।

सञ्जी०—दोहदो गर्भिणीमनोरथः। तच्छंसिनी ते प्रजावती भ्रातृजाया। 'प्रजावती भ्रातृजाया' इत्यमरः। तपोवनेषु स्पृहयालुरेव सस्पृहेव। 'स्पृहिगृहिपतिदयिनिद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आलुच्' इत्यनेनालुच्प्रत्ययः। स त्वं रथी सन् तद्व्यपदेशेन दोहदमिषेण नेयां नेतव्यामेनां सीतां वाल्मीकेः पदं स्थानं प्रापय्य गमयित्वा। 'विभाषापः' इत्ययादेशः। त्यज।

व्याख्या—हे लक्ष्मण! दोहदशंसिनी = गर्भिणीमनोरथसूचिका। ते=तव। प्रजावती = भ्रातृजाया जानकी। तपोवनेषु = धर्मारण्येषु। स्पृहयालुः = अभिलषितवती एव। सः = तादृशः, देशस्थितः। त्वं रथी=रथारूढः सन्। तद्व्यपदेशनेयां = दोहदामिषनेतव्याम् एनां=सीताम्। वाल्मीकिपदं = प्राचेतसाश्रमस्थानम्। प्रापय्य=गमयित्वा नीत्वा, उपस्थाप्य। त्यज=मुञ्च।

समासः - दोहदं शंसतीति दोहदशंसिनी। तपसो वनानि तपोवनानि तेषु तपोवनेषु। 'स्पृहयितुं शीलमस्या इति स्पृहयालुः। तस्य व्यपदेशः तद्व्यपदेशः तद् व्यपदेशेन नेया तद्व्यपदेशनेया तां तद्व्यपदेशनेयाम्। रथोऽस्यास्तीति रथी। वाल्मीकेः पदमिति वाल्मीकिपदम्।

भावार्थः—श्रीरामो हि अनुजं लक्ष्मणमाज्ञापयामास—सौम्य! सीतायाः पुनः तपोवनगमनरूपं दोहदमस्ति। अतस्त्वं गर्भिणीमनोरथपूर्तये तपोवनं गम्यते इत्येवाभिनयम् महर्षेः वाल्मीकः आश्रमे समुपस्थाप्य एनां परित्यजेति भावः।

भावार्थ— गर्भिणी तुम्हारी भाभी सीता तपोवन देखना चाहती हैं। इसलिए तुम इन्हें इसी बहाने रथ पर ले जाकर वाल्मीकिजी के आश्रम तक पहुँचाकर छोड़ आओ॥ ४५॥

स शुश्रुवान्मातरि भार्गवेण पितुर्नियोगात्प्रहृतं द्विषद्वत्।
प्रत्यग्रहीदग्रजशासनं तदाज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया॥ ४६॥

अन्वयः—पितुः नियोगात् भार्गवेण मातरि द्विषद्वत् प्रहृतं शुश्रुवान् सः तत् अग्रजशासनं प्रत्यग्रहीत्। हि गुरूणाम् आज्ञा अविचारणीया (अस्ति)।

सञ्जी०—पितुर्जमदग्नेर्नियोगाच्छासनाद्भार्गवेण जामदग्न्येन कर्त्रा। 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' इत्यनेन षष्ठीप्रतिषेधः। मातरि द्विषतीव द्विषद्वत्। 'तत्र तस्येव' इति वतिप्रत्ययः। प्रहृतं प्रहारं शुश्रुवान्श्रुतवान्। 'भाषायां सदव-

सश्रुवः' इति क्वसुप्रत्ययः। स लक्ष्मणस्तदग्रजशासनं प्रत्यग्रहीत्। हि यस्मात् गुरूणामाज्ञाऽविचारणीया।

व्याख्या—पितुः = तातस्य जमदग्नेः। नियोगात् = शासनात्। मार्गवेण= परशुरामेण मातरि = जनन्यां रेणुकायाम्। द्विषद्वत्=शत्रुवत्। प्रहृतं=प्रहारम्। शुश्रुवान् = श्रुतवान्। सः = लक्ष्मणः। तत्=पूर्वोक्तम्। अग्रजशासनं = ज्येष्ठस्य भ्रातुर्नियोगम्। प्रत्यग्रहीत् = स्वीकृतवान्। हि = यस्मात् कारणात्। गुरूणां= मान्यजनानाम्। आज्ञा=आदेशः। अविचारणीया=अविमर्शनीया, कर्तव्याकर्तव्यविचारमन्तरैवानुष्ठेया भवतीत्यर्थः।

समासः—द्वेष्टीति द्विषत् द्विषतीव द्विषद्वत्। अग्रे जातः अग्रजः अग्रजस्य शासनं अग्रजशासनं तत् अग्रजशासनम्। विचारयितुं योग्या विचारणीया न विचारणीया अविचारणीया। गृह्णन्ति तत्त्वानि इति गुरवः तेषाम् गुरूणाम्। भृगोः गोत्रापत्यं पुमान् मार्गवः तेन मार्गवेण।

भावार्थः—यथा पुरा परशुरामः मातृशिरश्छेदनरूपा पितुराज्ञा स्वीकृता तथैव लक्ष्मणोऽपि भ्रातृजायासीतापरित्यागरूपं निष्ठुरमग्रजस्य श्रीरामस्यादेशमङ्गीकृतवान्। अथैकदा महर्षेः जमदग्नेः धर्मपत्नी रेणुका सायङ्काले जलाहरणार्थं नदीमुपगता। तत्राप्सरोभिः साकं जलक्रीडां कुर्वतः एकस्य गन्धर्वस्यावलोकने विलम्बो जातः। ततः प्रत्यागतां तामवेक्ष्य जमदग्निः तस्या मानसमपराधं निश्चित्य सञ्जातक्रोधः स्वपुत्रान् आहूयैकैकशः मातुः शिरश्छेत्तुमादिदेश। तेषु तत्कार्यमस्वीकुर्वत्सु परशुराममाज्ञप्तवान्। स हि पितुः प्रभावं जानानः तत्कालमेव स्वपरशुना जनन्याः शिरः कर्तयामास। ततो मुनिः तानपि आज्ञां निराकरिष्णून् भ्रातॄन् हन्तुमाज्ञप्तवान्। ततः परशुरामः तातस्य तामप्याज्ञां तथैवाकार्षीत्। तदनन्तरमाज्ञापालनेन परमः प्रसन्नो जमदग्निमुनिः वरद्वयं वरीतुं परशुराममभाषत्। तदा परशुरामः एकेन वरेण मातुः भ्रातॄणाञ्च पुनर्जीवनं स्वकृतवधविस्मरणं च प्रार्थितवान्, द्वितीयेन च वरेण तज्जन्यप्रत्यवायाभावं ययाचे। तन्निशम्य मुनिरुभयमपि वरमङ्गीकृत्य तान् स्वतपोबलेन जीवयामास, निजवधविस्मरणञ्चाचीकरत्। इति महाभारतीया कथाऽत्रानुसन्धेया।

भाषार्थ—लक्ष्मण ने सुन रखा था कि पिता की आज्ञा पाकर परशुराम ने अपनी माता को निर्दयतापूर्वक शत्रु के समान मार डाला था। इसलिए उन्होंने पिता के समान बड़े भाई की आज्ञा शिर चढ़ा ली, क्योंकि बड़ों की आज्ञा में विचार करना ठीक नहीं है ॥ ४६ ॥

अथानुकूलश्रवणप्रतीतामत्रस्नुभिर्युक्तधुरं तुरङ्गैः ।
रथं सुमन्त्रप्रतिपन्नरश्मिमारोप्य वैदेहसुतां प्रतस्थे ॥ ४७ ॥

अन्वयः—अथ असौ अनुकूलश्रवणप्रतीतां वैदेहसुतां अत्रस्नुभिः तुरङ्गैः युक्तधुरं सुमन्त्रप्रतिपन्नरश्मि रथं आरोप्य प्रतस्थे ।

सञ्जी०—अथासौ लक्ष्मणः । अनुकूलश्रवणेन प्रतीतामिष्टाकर्णनेन तुष्टां वैदेहसुतामत्रस्नुभिरभीरुभिर्गर्भिणीवहनयोग्यैः । 'त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः" इति क्नुप्रत्ययः । तुरङ्गैर्युक्तधुरं सुमन्त्रेण प्रतिपन्नरश्मि गृहीतप्रग्रहं रथमारोप्य प्रतस्थे ।

व्याख्या—अथ = अनन्तरम् । लक्ष्मणः अनुकूलश्रवणप्रतीतां = इष्टाकर्णनप्रसन्नाम् वैदेहसुतां=विदेहतनयां सीताम् । अत्रस्नुभिः = अभीरुभिः, गर्भिणीवहनयोग्यैः । तुरङ्गैः = अश्वैः । युक्तधुरं = युक्तभारम् । संयुक्ताग्रभोगम् सुमन्त्रप्रतिपन्नरश्मि = सुमन्त्रप्रतिगृहीतप्रग्रहम् । रथं =स्यन्दनम् । आरोप्य = उपवेश्य । प्रतस्थे=तपोवनं प्रति प्रस्थानमकार्षीत् ।

समासः—अनुकूलस्य श्रवणमनुकूलश्रवणम् अनुकूलश्रवेणन प्रतीता अनुकूलश्रवणप्रतीता ताम् अनुकूलश्रवणप्रतीताम् । विदेहानां राजा वैदेह वैदेहस्य सुता वैदेहसुता तां वैदहसुताम् । न त्रस्नव अत्रस्नुवः तैः अत्रस्नुभिः । युक्ता धूर्यस्य स युक्तधूः तं युक्तधुरम् । सुमन्त्रेण प्रतिपन्नः रश्मियंस्य स सुमन्त्रप्रतिपन्नरश्मिः तं सुमन्त्रप्रतिपन्नरश्मिम् ।

भावार्थः—ततो लक्ष्मणः अभीष्टतपोवनदर्शनश्रवणप्रसन्नां जनकनन्दिनीं सीतां विश्वस्तैरश्वैः युक्तं सुमन्तगृहीतप्रग्रहं रथमारोप्य वाल्मीकेः तपोवनं प्रति अयोध्यातो निर्जगामेति भावः ।

भाषार्थ—सीताजी यह सुनकर बड़ी प्रसन्न हुई कि लक्ष्मण मुझे तपोवन दिखाने ले जा रहे हैं, लक्ष्मणजी उन्हें ऐसे रथपर चढ़ाकर ले चले, जिसे स्वयं सुमन्त्र हाँक रहे थे और जिसके घोड़े ऐसे सधे हुए थे कि रथ के चलते समय सीता को थोड़ी भी हचक नहीं लग पाती थी ॥ ४७ ॥

सा नीयमाना रुचिरान्प्रदेशान्प्रियङ्करो मे प्रिय इत्यनन्दत् ।
नाबुद्ध कल्पद्रुमतां विहाय जातं तमात्मन्यसिपत्रवृक्षम् ॥ ४८ ॥

अन्वयः—सा रुचिरान् प्रदेशान् नीयमाना मे प्रियः प्रियङ्कर इति अनन्दत् तम् आत्मनि कल्पद्रुमतां विहाय असिपत्रवृक्षं जातं न अबुद्ध ।

सञ्जी०—सा सीता रुचिरान्मनोज्ञान् प्रदेशान्नीयमाना प्राप्यमाणा सती मे मम प्रियः । प्रियं करोतीति प्रियङ्करः । प्रियकारीत्यनन्दत् । 'क्षेमप्रियमद्रेण्च' इति

चकारात्खच्प्रत्ययः। तं प्रियमात्मनि विषये कल्पद्रुमतां सुरवृक्षतां विहायासिपत्रवृक्षं जातं नाबुद्ध नाज्ञासीत्। बुध्यतेर्लुङ्। असिपत्रवृक्षः खड्गाकारदलः कोऽप्यपूर्वो वृक्षविशेषः। 'असिपत्रो भवेत्कोषकारे च नरकान्तरे' इति विश्वः। आसन्नघातुक इति भावः।

व्याख्या—सा=सीता। रुचिरान्=मनोहरान्। प्रदेशान्=स्थानानि। नीयमाना=प्राप्यमाणा बाह्यमाना सती। मे = मम। प्रियः=वल्लभः रामः। प्रियङ्करः = प्रियकारी। इति = इत्थम्। अनन्दत्=प्रसन्ना अभवत्। परं तं = प्रियं रामम्। आत्मनि=स्वविषये। कल्पद्रुमतां = सुरवृक्षत्वम् इष्टप्रदताम्। विहाय= त्यक्त्वा। असिपत्रवृक्षं=असिपत्रतरुम्। जातं=परिणतम्। न अबुद्ध=नाज्ञासीत्।

समासः— प्रियं करोतीति प्रियङ्करः तं प्रियङ्करम्। कल्प इति द्रुमः कल्पद्रुमः कल्पद्रुमस्य भावः कल्पद्रुमता तां कल्पद्रुमताम्। असिपत्र इति वृक्षः असिपत्रवृक्षः तम् असिपत्रवृक्षम्।

भावार्थः—सीता मनोरमान् प्रदेशान् रथेन नीयमाना प्रियकारी मे वल्लभ इति अनुभवन्ती प्रमुदिता अभूत्, किन्त्वात्मविषये परिणतकठोरहृदयं तं न ज्ञातवतीति भावः।

भाषार्थ—मनोहर प्रदेशों में जाती हुई सीताजी यह सोचकर बड़ी प्रसन्न हुई कि मेरे प्राणप्रिय सदा मेरे मन की ही बात करते हैं। उन्हें क्या पता था कि इस समय वे मनोरथ पूरा करनेवाले कल्पवृक्ष के बदले उस असिपत्र के वृक्ष के समान दुःखदायी हो गये हैं, जिसके पत्ते तलवार के समान पैने होते हैं ॥ ४८॥

जुगूह तस्याः पथि लक्ष्मणो यत्सव्येतरेण स्फुरता तदक्ष्णा।
आख्यातमस्यै गुरु भावि दुःखमत्यन्तलुप्तप्रियदर्शनेन ॥ ४९ ॥

अन्वयः—पथि लक्ष्मणः यत् तस्याः जुगूह तत् गुरु भावि दुःखम् अत्यन्तलुप्तप्रियदर्शनेन स्फुरता सव्येतरेण अक्ष्णा अस्यै आख्यातम्।

सञ्जी०—पथि लक्ष्मणो यद्दुःखं तस्याः सीताया जुगूह प्रतिसंहृतवांस्तद्गुरु भावि भविष्यद्दुःखमत्यन्तलुप्तं प्रियदर्शनं यस्य तेन स्फुरता सव्येतरेण दक्षिणेनाक्ष्णाऽस्यै सीताया आख्यातम्। स्त्रीणां दक्षिणाक्षिस्फुरणं दुर्निमित्तमाहुः।

व्याख्या – पथि=मार्गे। लक्ष्मणः=रामानुजः, सौमित्रिः। यत्=दुःखं, रामपरित्यागरूपम्। तस्याः=सीतायाः जुगूह=संववार प्रच्छादयामास न प्रकाशितवान्। तत् = तादृशम्। गुरु = दुर्वहम् दुःसहम्। भावि = भविष्यत्। दुःखं=

कष्टम्। अत्यन्तलुप्तप्रियदर्शनेन=अतिशयागतवल्लभविलोकनेन। स्फुरता=सञ्चलता। सव्येतरेण=दक्षिणेन। अक्ष्णा = नेत्रेण। अस्यै = सीतायै। आख्यातं=कथितम्।

समासः—सव्यात् इतरत् सव्येतरत् तेन सव्येतरेण। अत्यन्तं लुप्तम् अत्यन्तलुप्तम्, प्रियस्य दर्शनं प्रियदर्शनम् अत्यन्तलुप्तं प्रियदर्शनं यस्य तत् अत्यन्तलुप्तप्रियदर्शनम् तेन अत्यन्तलुप्तप्रियदर्शनेन। स्फुरतीति स्फुरत् तेन स्फुरता।

भावार्थः—यद्यपि श्रीरामानुजो लक्ष्मणः मार्गे तत् निर्वासात्मकमुत्पद्यमानं दुःसहं दुःखं न व्यक्तवान् तथापि सीताया दक्षिणाक्षिस्पन्दनं तद् भावि दुःखं सीतायै असूचयदेवेति भावः।

भाषार्थ—लक्ष्मण ने सीताजी से मार्ग में कुछ भी नहीं बतलाया था कि तुमपर क्या विपत्ति आनेवाली है पर सीताजी के दाहिने नेत्र ने फड़ककर आगे आनेवाले दुःख की सूचना दे ही तो दी॥ ४९॥

> सा दुर्निमित्तोपगताद्विषादात्सद्यः परिम्लानमुखारविन्दा।
> राज्ञः शिवं सावरजस्य भूयादित्याशशंसे करणैरबाह्यैः॥ ५०॥

अन्वयः—सा दुर्निमित्तोपगतात् विषादात् सद्यः परिम्लानमुखारविन्दा (सती) सावरजस्य शिवं भूयात् इति अबाह्यैः करणैः आशशंसे।

सञ्जी०—सा सीता दुर्निमित्तेन दक्षिणाक्षिस्फुरणरूपेणोपगतात्प्राप्ताद्विषाद् दुःखात्सद्यः परिम्लानमुखारविन्दा क्लान्तमुखकमला सती सावरजस्य सानुजस्य राज्ञो रामस्य शिवं भूयादित्यबाह्यैः करणैरन्तःकरणैराशशंसे। शंसतेरपेक्षायामात्मनेपदमिष्यते करणैरिति बहुवचनं क्रियावृत्त्यभिप्रायम्। पुनः पुनराशशंस इत्यर्थः।

व्याख्या—सा=सीता। दुर्निमित्तोपगतात् = अपशकुनप्राप्तात्, दक्षिणाक्षिस्फुरणजात्। विषादात्=दुःखाद्धेतोः। सद्यः=सपदि, तत्क्षणे। परिम्लानमुखारविन्दा=क्लान्तवदनकमला सती। सावरजस्य = सानुजस्य। राज्ञः = भूपतेः, श्रीरामस्य। शिवं = मङ्गलं कल्याणम्। भूयात् = भवतात्। इति=इत्थम्: अबाह्यैः = अबहिर्भवैः आभ्यन्तरैः। करणैः = अन्तःकरणैः इन्द्रियैः। आशशंसे= आचकाङ्क्षे, आशंसितवती।

समासः—दुष्टं निमित्तं दुर्निमित्तं दुर्निमित्तेन उपगतः दुर्निमित्तोपगतः, तस्मात् दुर्निमित्तोपगतात्। मुखमरविन्दमिव मुखारविन्दं परिम्लानं मुखारविन्दं यस्याः सा परिम्लानमुखारविन्दा। बहिः भवानि बाह्यानि तैः बाह्यैः। अवरं जाता अवरजाः अवरजैः सह वर्तते इति सावरजः तस्य सावरजस्य।

भावार्थः—दक्षिणाक्षिस्पन्दनरूपेणापशकुनेन विषण्णवदना भयभीता सीता सानुजः श्रीरामः कुशली भवतादित्यन्तःकरणैराशंसितवतीति भावः।

भाषार्थ—यह अपशकुन होते ही सीता का मुँह उदास हो गया और वे मन ही मन मनाने लगीं कि भाइयों के साथ राजा सुख से रहें, उनपर कोई आँच न आये ॥ ५० ॥

गुरोर्नियोगाद्वनितां वनान्ते साध्वीं सुमित्रातनयो विहास्यन् ।
अवार्यतेवोत्थितवीचिहस्तैर्जह्नोर्दुहित्रा स्थितया पुरस्तात् ॥ ५१ ॥

अन्वयः—गुरोः नियोगात् साध्वीं वनितां वनान्ते विहास्यन् सुमित्रातनयः पुरस्तात् स्थितया जह्नोः दुहित्र्याः उत्थितवीचिहस्तैः अवार्यत इव।

सञ्जी०—गुरोर्ज्येष्ठस्य नियोगात्साध्वीं वनिताम्। अत्याज्यामित्यर्थः। वनान्ते विहास्यंस्त्यक्ष्यन्सुमित्रातनयो लक्ष्मणः पुरस्तादग्रे स्थितया जह्नोर्दुहित्रा जाह्नव्योत्थितैर्वीचिहस्तैरवार्यतेव। अकार्यं मा कुर्वित्यवार्यतैव इत्युत्प्रेक्षा।

व्याख्या—गुरोः=ज्येष्ठभ्रातुः, श्रीरामस्य। नियोगात्=शासनात्। साध्वीं=पतिव्रताम्। वनितां=स्त्रियम्। वनान्ते=आरण्यकप्रदेशे। विहास्यन्=त्यक्ष्यन्। सुमित्रातनयः=सौमित्रिः, लक्ष्मणः। पुरस्तात्=अग्रे। स्थितया=विद्यमानया। जह्नोः दुहित्रा=जाह्नव्या, गङ्गया। उत्थितवीचिहस्तैः=उद्भूततरङ्गकरैः। अवार्यत इव=अरे सौमित्रे इदमकार्यं मा कुरु, इति न्यषेधि इव।

समासः—वनस्यान्तः वनान्तः तस्मिन् वनान्ते। सुमित्रायाः तनयः सुमित्रातनयः। विहास्यतीति विहास्यन्। वीचय एव हस्ता वीचिहस्ता उत्थिताश्च ते वीचिहस्ता इति उत्थितवीचिहस्ताः तैः उत्थितवीचिहस्तैः।

भावार्थः—यद्यपि लक्ष्मणस्य सीतापरित्यागरूपं कार्यं न स्वेच्छाकृतमासीत्तथापि ज्येष्ठस्य भ्रातुः श्रीरामस्यादेशेन तदकार्यं कर्तुं स प्रवृत्त आसीत्। यथा लोके किमप्यकृत्यं कर्तुं प्रवृत्तं पुमांसं विचारशीला वारयन्ति तथैव पुरः प्रवहन्ती भगवती भागीरथी गङ्गा उद्गतैरूर्मिरूपहस्तैः सौम्य! सौमित्रे! इदमकार्यं मा कुर्विति सङ्केतितवतीवेति भावः।

भाषार्थ—मार्ग में गंगाजी पड़ीं उनमें जो लहरें उठ रही थीं, वे बड़े भाई की आज्ञा से पतिव्रता सीता को वन में छोड़ने के लिए ले जाते हुए लक्ष्मण से मानो हाथ हिलाकर कह रही थीं कि ऐसा न करो ॥ ५१ ॥

रथात्स यन्त्रा निगृहीतवाहात्तां भ्रातृजायां पुलिनेऽवतार्य ।
गङ्गां निषादाहृतनौविशेषस्ततार सन्धामिव सत्यसन्धः ॥ ५२ ॥

अन्वयः—सत्यसन्धः सः यन्त्रा निगृहीतवाहात् रथात् भ्रातृजायां पुलिने अवतार्य निषादाहृतनौविशेषः (सन्) गङ्गां सन्धाम् इव ततार ।

सञ्जी०—सत्यसन्धः सत्यप्रतिज्ञः स लक्ष्मणो यन्त्रा सारथिना निगृहीतवाहाद्रुद्धाश्वाद्रथाद्भ्रातृजायां पुलिनेऽवतार्यारोप्य निषादेन किरातेनाहृतनौविशेष आनीतदृढनौकः सन् गङ्गां भागीरथीं सन्धां प्रतिज्ञामिव ततार । 'सन्धा प्रतिज्ञा मर्यादा' इत्यमरः ।

व्याख्या—सत्यसन्धः=तथ्यप्रतिज्ञः । सः = लक्ष्मणः । यन्त्रा=सारथिना । सुमन्त्रेण निगृहीतवाहात्=निरुद्धघोटकात् । रथात् = स्यन्दनात् । भ्रातृजायाम्=प्रजावतीम् तां जानकीम् । पुलिने=तीरे । अवतार्य=अवारोह्य । निषादाहृतनौविशेषः=धीवरानीतदृढनौकः । गङ्गां=भागीरथीम् । सन्धां=रामस्य पुरःकृतां प्रतिज्ञामिव । ततार = तीर्णवान् ।

समासः—सत्या सन्धा यस्य स सत्यसन्धः । वहन्तीति वाहाः निगृहीता वाहा यस्य स निगृहीतवाहः तस्मात् निगृहीतवाहात् । भ्रातुः जाया भ्रातृजाया तां भ्रातृजायाम् । नावः विशेषः नौविशेषः आहृतो नौ विशेषो यस्य स आहृतनौविशेषः ।

भावार्थः—सत्यप्रतिज्ञो लक्ष्मणः गङ्गायास्तटे सीतां रथादवतार्य निषादेनानीतया नौकया गङ्गां श्रीरामस्याग्रे सीतापरित्यागार्थं कृतां प्रतिज्ञामिव ततारेति भावः।

भाषार्थ—गङ्गाजी के तट पर पहुँचकर सारथी ने घोड़ों की रास खींच ली, सत्यप्रतिज्ञ लक्ष्मण ने सीता को रेती पर उतार लिया, केवट द्वारा लाई हुई नाव पर चढ़कर सीता के साथ गङ्गाजी को पार करके अपनी उस प्रतिज्ञा से भी पार हो गये, जो उन्होंने सीता को गङ्गा पार छोड़ने के लिए राम से कही थी ॥५२॥

अथ व्यवस्थापितवाक्कथंचित्सौमित्रिरन्तर्गतबाष्पकण्ठः ।
औत्पातिकं मेघ इवाश्मवर्षं महीपतेः शासनमुज्जगार ॥ ५३ ॥

अन्वयः—अथ कथंचित् व्यवस्थापितवाग् अन्तर्गतबाष्पकण्ठः सौमित्रिः महीपतेः शासनं मेघः औत्पातिकं अश्मवर्षम् इव उज्जगार ।

सञ्जी०—अथ कथंचिद्व्यवस्थापिता प्रकृतिमापादिता वाग् येन स अन्तर्गतबाष्पः कण्ठो यस्य सः । कण्ठस्तम्भिताश्रुरित्यर्थः । सौमित्रिर्महीपतेः शासनं मेघ उत्पाते भवमौत्पातिकमश्मवर्षं शिलावर्षमिव उज्जगारोद्गीर्णवान् । दारुणत्वेनावाच्यत्वादुज्जगारेत्युक्तम् ।

व्याख्या—अथ=गङ्गावतरणानन्तरम् । कथञ्चित् = केनापि प्रकारेण महता कष्टेन । व्यवस्थापितवाक् = स्थिरीकृतवाणिः । अन्तर्गतबाष्पकण्ठः = आभ्यन्तर-

स्थिताश्रुगलः, कण्ठस्थिताश्रुः । सौमित्रिः = लक्ष्मणः । महीपतेः=भूपतेः, श्रीरामस्य । शासनं = आदेशम् । मेघः = घनः, अभ्रम् । औत्पातिकं = उत्पातप्रभवम् अनिष्टसूचकम् । अश्मवर्षं=वर्षोपलं प्रस्तरवृष्टिमिव । उज्जगार = उद्गीर्णवान् । प्रकाशयामास ।

समासः—व्यवस्थिता वाक् येन स व्यवस्थितवाक् । अन्तर्गतं वाष्पं यस्य स अन्तर्गतवाष्पः अन्तर्गतवाष्पः कण्ठो यस्य स अन्तर्गतवाष्पकण्ठः । सुमित्रायाः अपत्यं पुमान् सौमित्रिः । मह्याः पतिः महीपतिः तस्य महीपतेः । उत्पत्तेः भवम् औत्पातिकं तत् औत्पातिकम् ।

भावार्थः—अथ विशादातिशयात् महता कष्टेन कण्ठस्तम्भिताश्रुः सन् लक्ष्मणः राजशासनं मेघः औत्पातिकं वर्षोपलमिव उद्गीर्णवान्—रामस्यादेशं सीतां श्रावयामासेति भावः ।

भाषार्थ—पार पहुंचकर लक्ष्मण ने आंसू रोककर रुंधे हुए गले से सीताजी को राम की आज्ञा इस प्रकार सुनायो, जिस प्रकार कोई भयंकर मेघ ओले बरसा रहा हो ।। ५३ ।।

ततोऽभिषङ्गानिलविप्रविद्धा प्रभ्रश्यमानाभरणप्रसूना ।
स्वमूर्तिलाभप्रकृतिं धरित्रीं लतेव सीता सहसा जगाम ।। ५४ ।।

अन्वयः—ततः अभिषङ्गानिलविप्रविद्धा प्रभ्रश्यमानाभरणप्रसूना सीता लता इव सहसा स्वमूर्तिलाभप्रकृतिं धरित्रीं जगाम ।

सञ्जी०—ततः अभिषङ्गः भर्तृपरित्यागरूपः पराभवः । 'अभिषङ्गः पराभवे' इत्यमरः । स एवानिलस्तेन विप्रविद्धा अभिहता प्रभ्रश्यमानानि पतन्त्याभरणान्येव प्रसूनानि यस्याः सा सीता लतेव सहसा स्वमूर्तिलाभस्य स्वशरीरलाभस्य स्योत्पत्तेः प्रकृतिं कारणं धरित्रीं जगाम । भूमौ पपातेत्यर्थः । स्त्रीणामापदि मातैव शरणमिति भावः ।

व्याख्या—ततः = तदनन्तरं स्वपरित्यागरूपराजशासनश्रवणानन्तरम् । अभिषङ्गानिलविप्रविद्धा=पराभवरूपवातताडिता । प्रभ्रश्यमानाभरणप्रसूनाः = पतदलङ्काररूपकुसुमा । सीता=जानकी । लता इव=वल्ली इव । सहसा=तत्कालम्, अतर्कितरूपेण । स्वमूर्तिलाभप्रकृतिम्=आत्मशरीरप्राप्तिहेतुभूताम् । धरित्रीं = पृथिवीम् प्रपेदे, भूमौ पपातेत्यर्थः ।

समासः—अभिषङ्ग एवानिलः अभिषङ्गानिलः अभिषङ्गानिलेन विप्रविद्धा अभिषङ्गानिलविप्रविद्धा । आभरणानि प्रसूनानि इव आभरणप्रसूनानि । प्रभ्रश्य-

मानानि आभरणप्रसूनानि यस्याः सा प्रभ्रश्यमानाभरणप्रसूना। स्वस्य मूर्तिः स्वमूर्तिः स्वमूर्तेः लाभः स्वमूर्तिलाभः स्वमूर्तिलाभस्य प्रकृतिरिति स्वमूर्तिलाभ-प्रकृतिः तां स्वमूर्तिलाभप्रकृतिम्।

भावार्थः—अत्र श्रीरामस्य स्वपरित्यागादेशं श्रुत्वैव सीता विलगदाभरणाति-दुःखमूर्च्छिता सती स्वमातुः शरणमाशिश्रिये। अर्थात् वाताहतलतेव विसंज्ञा भूत्वा स्वदेहलाभभूतायां भूमौ निपपातेति भावः।

भाषार्थ—जिस प्रकार लू लगने से लता के फूल झर जाते हैं और वह झोंका खाकर पृथ्वी पर गिर पड़ती है, उसी प्रकार इस अपमानजनक बात को सुनकर सीता के आभूषण गिर पड़े और वे भी अपनी माँ पृथ्वी की गोद में गिर पड़ीं ॥ ५४ ॥

> इक्ष्वाकुवंशप्रभवः कथं त्वां त्यजेदकस्मात्पतिरार्यवृत्तः।
> इति क्षितिः संशयितेव तस्यै ददौ प्रवेशं जननी न तावत् ॥ ५५ ॥

अन्वयः—इक्ष्वाकुवंशप्रभवः आर्यवृत्तः पतिः त्वाम् अकस्मात् कथं त्यजेत् इति संशयिता इव तावत् जननी क्षितिः तस्यै प्रवेशं न ददौ।

सञ्जी०—इक्ष्वाकुवंशप्रभवः महाकुलप्रसूतिरित्यर्थः। आर्यवृत्तः साधुचरितः पतिर्भर्ता त्वामकस्मादकारणात्कथं त्यजेत्। असम्भावितमित्यर्थः। इति संशयितेव सन्दिहानेव तावत् त्यागहेतुज्ञानावधेः प्रागित्यर्थः। जननी क्षितिस्तस्यै सीतायै प्रवेशम् आत्मनीति शेषः। न ददौ।

व्याख्या—इक्ष्वाकुवंशप्रभवः=इक्ष्वाकुकुलोत्पन्नः। तत्रापि आर्यवृत्तः=साधु-चरितः पतिः=भर्ता श्रीरामः। त्वां=धर्मपत्नीं सीताम्। अकस्मात्=अकारणात्। कथं=केन प्रकारेण। त्यजेत्=मुञ्चेत्। इति=एवम् संशयिता इव=सन्दिहाना इव। जननी=जनयित्री। क्षितिः=पृथ्वी। तस्यै=सीतायै। प्रवेशं=तिरो-भावावसरम्। न ददौ=न दत्तवती।

समासः-इक्ष्वाकोः वंशः इक्ष्वाकुवंशः इक्ष्वाकुवंशः प्रभवो यस्य स इक्ष्वाकुवंश-प्रभवः। आर्यं वृत्तं यस्य स आर्यवृत्तः। संशयः अस्या सञ्जाता इति संशयिता।

भावार्थः—महाकुलोत्पन्न इक्ष्वाकुवंशीय आदर्शचरित्रः श्रीरामः पतिव्रतां धर्मपत्नीं त्वामकारणात् कथं परित्यजेदिति संशयमापन्ना पृथिवी माता तस्यै स्व-पुत्र्यै सीतायै स्वस्यां प्रवेशं नादात् इति भावः।

भाषार्थ—उस समय पृथ्वी ने मानों दुविधा में पड़कर अपनी गोद में नहीं समा

लिया कि इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न एवं सदाचारी राम सीता को इस प्रकार अचानक क्यों छोड़ देंगे ? ॥ ५५ ॥

सा लुप्तसंज्ञा न विवेद दुःखं प्रत्यागतासुः समतप्यतान्तः ।
तस्याः सुमित्रात्मजयत्नलब्धो मोहादभूत्कष्टतरः प्रबोधः ॥ ५६ ॥

अन्वयः—लुप्तसंज्ञा सा दुःखं न विवेद प्रत्यागतासुः (सती) अन्तः समतप्यत तस्याः सुमित्रात्मजयत्नलब्धः प्रबोधः मोहात् कष्टतरः अभूत् ।

सञ्जी०—लुप्तसंज्ञा नष्टचेतना मूर्च्छिता सा दुःखं न विवेद । प्रत्यागतासुर्लब्धसंज्ञा सत्यन्तः समतप्यत । दुःखेनादह्यतेत्यर्थः । तपेः कर्मणि लङ् । कर्मकर्तरीति केचित् तत्र 'तपस्तपःकर्मकस्यैव' इति यङ्नियमात् । तस्याः सीतायाः सुमित्रात्मजयत्नलब्धः प्रबोधो मोहात्कष्टतरोऽतिदुःखदोऽभूत् । दुःखवेदनासम्भवादिति भावः ।

व्याख्या—लुप्तसंज्ञा = नष्टचेतना, मूर्च्छिता सा = सीता । दुःखं=व्यथाम् । न विवेद = नो बुबुधे । प्रत्यागतासुः = लब्धचेतना सती । अन्तः = अन्तःकरणे । समतप्यत=सन्तप्ता अभूत् दुःखेन आदह्यत । तस्याः = सीतायाः । सुमित्रात्मजयत्नलब्धः = सौमित्रिप्रयासप्राप्तः । प्रबोधः = चेतना । मोहात् = मूर्च्छातः । कष्टतरः=अतिदुःखदः । अभूत्=अजायत ।

समासः—लुप्ता संज्ञा यस्याः सा लुप्तसंज्ञा । प्रत्यागता असवो यस्याः सा प्रत्यागतासुः । सुमित्राया आत्मजः सुमित्रात्मजः सुमित्रात्मजस्य यत्नः सुमित्रात्मजयत्नः सुमित्रात्मजयत्नेन लब्धः सुमित्रात्मजयत्नलब्धः ।

भावार्थः—सा सीता मूर्च्छिता सती दुःखं न ज्ञातवती, परं प्रत्यागतचेतना अन्तःकरणे सन्तापमन्वभवत् । लक्ष्मणप्रयासेन प्राप्ता चेतना मूर्च्छापेक्षया अतिदुःखदाऽभूत् । इति भावः ।

भाषार्थ—मूर्छा आ जाने से उन्हें उस समय तो दुःख नहीं हुआ; किन्तु जब वे मूर्छा से जगीं तब उनके हृदय में बड़ी व्यथा हुई । लक्ष्मण ने जलसिंचन आदि प्रयत्न करके जो उनकी मूर्छा दूर की, वह बात उन्हें मूर्छा से भी अधिक कष्ट देनेवाली जान पड़ी ॥ ५६ ॥

न चावदद्भर्तुरवर्णमार्या निराकरिष्णोर्वृजिनादृतेऽपि ।
आत्मानमेव स्थिरदुःखभाजं पुनः पुनर्दुष्कृतिनं निनिन्द ॥ ५७ ॥

अन्वयः—आर्या वृजिनात् विना अपि निराकरिष्णोः भर्तुः अवर्णं न च अवदत् किन्तु स्थिरदुःखभाजम् (अत एव) दुष्कृतिनं आत्मानम् एव पुनः पुनः निनिन्द ।

सञ्जी०—आर्या साध्वी सा सीता वृजिनादृत एनसो विनाऽपि । 'कलुषं

वृजिनैनोऽघम्' इत्यमरः । 'अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते' इत्यनेन पञ्चमी । निराकरिष्णोर्निरासकस्य । 'अलंकृञ्निराकृञ्०' इत्यनेनेष्णुच्प्रत्ययः । भर्तुरवर्णमपवादं न चावदन्नैवावादीत् । किंतु स्थिरदुःखभाजमत एव दुष्कृतिनमात्मानं पुनः पुनर्निनिन्द ।

व्याख्या—आर्या=सती सीता । वृजिनात् ऋते अपि = पापं विना अपि । निराकरिष्णोः=परित्यागकारिणः भर्तुः=स्वामिनः, रामस्य । अवर्णं=आक्षेपम् । न अवदत्=नैवावादीत् । किन्तु स्थिरदुःखभाजं = दृढ़कष्टाश्रयम् । अत एव दुष्कृतिनं = पापभाजनम् । आत्मानमेव = स्वामेव । पुनः पुनः = भूयो भूयः । निनिन्द=निन्दितवती ।

समासः—स्थिरं च तत् दुःखं स्थिरदुःखं स्थिरदुःखं भजते इति स्थिरदुःखभाग् तं स्थिरदुःखभाजम् । दुष्कृतमस्ति अस्येति दुष्कृती तं दुष्कृतिनम् । निराकरोतीति निराकरिष्णुः तस्य निराकरिष्णोः ।

भावार्थः पतिव्रता सीता दोषं विनैव परित्यागकारिणः प्रभोः रामस्यापवादं न प्रतिपादितवती, किन्तु दृढकष्टाश्रयं पापभाजनं स्वात्मानमेव भूयो भूयो गर्हयाञ्चकारेति भावः ।

भाषार्थ—सीता इतनी साध्वी थीं कि निरपराध त्याग करनेवाले अपने पति को उन्होंने कुछ भी भला-बुरा नहीं कहा, किन्तु उन्होंने बार बार स्थिर दुःख को भोगनेवाली अपनी आत्मा की ही निन्दा की ।। ५७ ।।

आश्वास्य रामावरजः सतीं तामाख्यातवाल्मीकिनिकेतमार्गः ।
निघ्नस्य मे भर्तृनिदेशरौक्ष्यं देवि ! क्षमस्वेति बभूव नम्रः ।। ५८ ।।

अन्वयः—रामावरजः सतीं ताम् आश्वास्य आख्यातवाल्मीकिनिकेतमार्गः निघ्नस्य मे भर्तृनिदेशरौक्ष्यं हे देवि ! क्षमस्व इति नम्रः बभूव ।

सञ्जी०—रामावरजो लक्ष्मणः सतीं साध्वीं तामाश्वास्य आख्यात उपदिष्टो वाल्मीकेर्निकेतस्याश्रमस्य मार्गो येन स तथोक्तः सन् । निघ्नस्य पराधीनस्य । 'अधीनो निघ्न आयत्तः' इत्यमरः । मे भर्तृनिदेशेन स्वाम्यनुज्ञया हेतुना यद्रौक्ष्यं पारुष्यं तद्धे देवि ! क्षमस्व इति नम्रः प्रणतो बभूव ।

व्याख्या—रामावरज=रामानुजः लक्ष्मणः । सतीं=पतिव्रताम् । तां = सीताम् । आश्वास्य=अश्वस्तां कृत्वा । आख्यातवाल्मीकिनिकेतमार्गः=उपदिष्टवाल्मीक्याश्रमपथः सन् हे देवि ! =अयि प्रजावति ! निघ्नस्य = पराधीनस्य मे=

मम । भर्तृनिदेशरौक्ष्यं=स्वाम्यादेशपालनपारुष्यम्, भवतीपरित्यागरूपम् । क्षमस्व= मर्षय । इति=इत्थम् । नम्रः=प्रणतः । बभूव ।

समासः—अवरं जातः अवरजः रामस्य अवरजः रामावरजः । वाल्मीकेः निकेतः वाल्मीकिनिकेतः वाल्मीकिनिकेतस्य मार्गः वाल्मीकिनिकेतमार्गः आख्यातः वाल्मीकिनिकेतमार्गः येन स आख्यातवाल्मीकिनिकेतमार्गः । भर्तुः निदेशः भर्तृनिदेशः भर्तृनिदेशेन रौक्ष्यं भर्तृनिदेशरौक्ष्यं तत् भर्तृनिदेशरौक्ष्यम् ।

भावार्थः—रामानुजो लक्ष्मणः साध्वीं सीतां समाश्वास्य महर्षेः वाल्मीकेः तपोवनमार्गमाख्याय हे देवि ! अहं पराधीनोऽस्म्यतो मदीयं भवतीत्यागरूपं पारुष्यं क्षमस्वेति वदन् विनम्रोऽभवदिति भावः ।

भाषार्थ—राम के छोटे भाई लक्ष्मण ने साध्वी सीता को बहुत कुछ समझा-बुझा और महर्षि वाल्मीकि के आश्रम का मार्ग दिखाकर नम्रतापूर्वक कहा कि हे देवि ! मैं पराधीन हूँ । इसलिए स्वामी की आज्ञा से मैंने आपके साथ जो कठोर व्यवहार किया है, उसे आप क्षमा कीजिए, यह कहकर उनके चरण पर गिर गये ॥ ५८ ॥

सीता तमुत्थाप्य जगाद वाक्यं प्रीताऽस्मि ते सौम्य ! चिराय जीव ।
विडौजसा विष्णुरिवाग्रजेन भ्रात्रा यदित्थं परवानसि त्वम् ॥ ५९ ॥

अन्वयः—सीता तम् उत्थाप्य वाक्यं जगाद हे सौम्य ! ते प्रीता अस्मि चिराय जीव, यत् विडौजसा विष्णुः इव अग्रजेन भ्रात्रा त्वम् इत्थं परवान् असि ।

सञ्जी०—सीता तं लक्ष्मणमुत्थाप्य वाक्यं जगाद । किमिति ? हे सौम्य साधो ! ते प्रीतास्मि चिराय चिरं जीव । यद्यस्मात् विडौजसेन्द्रेण विष्णुरुपेन्द्र इव अग्रजेन ज्येष्ठेन भ्रात्रा त्वमित्थं परवान्परतन्त्रोऽसि ।

व्याख्या—सीता=मैथिली । तं = लक्ष्मणम् । उत्थाप्य=प्रणामार्थं पृथिव्यां पतितं वात्सल्यादुत्थितं कृत्वा । वाक्यं=वक्ष्यमाणं पदसमूहम् । जगाद=उवाच । हे सौम्य ! हे भद्र ! ते = तव विषये । प्रीता = प्रसन्ना । अस्मि = भवामि । चिराय = चिरकालम् । जीव = प्राणान् धारय । यत् = यस्मात् कारणात् । विडौजसा=इन्द्रेण विष्णुरिव = उपेन्द्रो वामन इव । अग्रजेन=पूर्वजेन । भ्रात्रा = रामेण । त्वम् इत्थं=एवम् । परवान्=परतन्त्रः असि = भवसि ।

समासः—विडतीति विडं विडम् ओजो यस्य स विडौजाः तेन विडौजसा । अग्रे जातः अग्रजः, तेन अग्रजेन । पर अस्यास्तीति परवान् । वेवेष्टि जगदिति विष्णुः ।

भावार्थः—साध्वी सीता पृथिव्यां प्रणतं लक्ष्मणं वात्सल्यादुत्थाप्य जगाद हे वत्स ! त्वयि अहं प्रसन्नाऽस्मि, यतस्त्वमिन्द्रस्य वामन इव ज्येष्ठस्य भ्रातुः

श्रीरामस्यानुशासने स्थितोऽसि। अनुयायिना स्वामिनो निदेशस्य पालनमवश्यमेव कर्तव्यं भवतीति भावः।

भाषार्थ—सीताजी लक्ष्मण को उठाकर बोलीं—हे वत्स ! मैं तुमपर प्रसन्न हूं, तुम अधिक दिन तक जीवो, क्योंकि जिस प्रकार इन्द्र के छोटे भाई विष्णु अपने बड़े भाई इन्द्र की आज्ञा सदा मानते हैं, उसी प्रकार तुम भी अपने बड़े भाई की आज्ञा माननेवाले हो ॥ ५९ ॥

श्वश्रूजनं सर्वमनुक्रमेण विज्ञापय प्रापितमत्प्रणामः।
प्रजानिषेकं मयि वर्तमानं सूनोरनुध्यायत चेतसेति ॥ ६० ॥

अन्वयः—सर्वं श्वश्रूजनम् अनुक्रमेण प्रापितमत्प्रणामः (सन्) विज्ञापय मयि वर्तमानं सूनोः प्रजानिषेकं चेतसा अनुध्यायत इति।

सञ्जी०—सर्वं श्वश्रूजनमनुक्रमेण प्रापितमत्प्रणामः सन्। मत्प्रणाममुक्त्वेत्यर्थः। विज्ञापय। किमिति ? निषिच्यत इति निषेकः मयि वर्तमानं सूनोस्त्वत्पुत्रस्य प्रजानिषेकं गर्भं चेतसाऽनुध्यायत। शिवमस्त्विति चिन्तयतेति।

व्याख्या—हे सौम्य ! सर्वं=समस्तम्। श्वश्रूजनं=भर्तृमातृवर्गम्, कौशल्यादिकम् अनुक्रमेण=ज्येष्ठपर्यायेण, अनुपूर्व्या। प्रापितमत्प्रणामः=नीतमामकीनप्रणतिः, मत्प्रणाममुक्त्वा। मयि=स्नुषायाम्। वर्तमानं=विद्यमानम्, अवस्थितम्। सूनोः=पुत्रस्य श्रीरामस्य। प्रजानिषेकं=सन्तानात्मकं गर्भम्। चेतसा=मनसा। अनुध्यायत=शिवमस्तु इति चिन्तयत। इति=इत्थम्। विज्ञापय=निवेदय।

समासः—श्वश्रूरिति जनः श्वश्रूजनः। मम प्रणामः मत्प्रणामः प्रापितः मत्प्रणामः येन स प्रापितमत्प्रणामः। निषिच्यते इति निषेकः प्रजायाः निषेकः प्रजानिषेकः तं प्रजानिषेकम्।

भावार्थः—हे सौम्य ! ज्येष्ठानुक्रमेण सर्वाभ्यः श्वश्रूभ्यः मत्प्रणाममुक्त्वा पश्चात्त्वया विज्ञापनीयं यद् युष्माकं तनयेन श्रीरामेण मयि आहितस्य गर्भस्य शिवाय भवत्यः चिन्तयन्त्विति भावः।

भाषार्थ—तुम जाकर सभी सासों से यथायोग्य मेरा प्रणाम कह कर कहना कि मेरे गर्भ में आपके पुत्र का तेज है। इसलिए आप लोग हृदय से उसका कुशल मनाते रहिएगा ॥ ६० ॥

वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य ॥ ६१ ॥

अन्वयः—स राजा त्वया मद्वचनात् वाच्यः समक्षं वह्नौ विशुद्धाम् अपि मां लोकापवादश्रवणात् अहासीः (इति) यत् तत् श्रुतस्य कुलस्य सदृशं किम् ?

सञ्जी०- स राजा त्वया मद्वचनान्मद्वचनमिति कृत्वा । ल्यब्लोपे पञ्चमी । वाच्यो वक्तव्य । किमित्यत आह—'वह्नौ' इत्यादिभिः सप्तभिः श्लोकैः । अक्ष्णोः समीपे समक्षम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । सामीप्यार्थे वा । 'अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः' इति समासान्तष्टच्प्रत्ययः । समक्षमग्रे वह्नौ विशुद्धामपि मां लोकवादस्य मिथ्यापवादस्य श्रवणाद्धेतोरहासीरत्याक्षीरिति यत्तच्छ्रुतस्य प्रख्यातस्य कुलस्य सदृशं किम् ? किंत्वसदृशमित्यर्थः । यद्वा, श्रुतस्य श्रवणस्य कुलस्य चेति योजना । कामचार्यसीति भावः ।

व्याख्या—हे सौम्य ! सः=प्रसिद्धः । राजा=प्रजापालकः श्रीरामः । त्वया=आयुष्मता लक्ष्मणेन । मद्वचनात्=मद्वचनमिति कृत्वा । वाच्यः=वक्तव्यः । यत् समक्षं=प्रत्यक्षम् । वह्नौ=अग्नौ । विशुद्धामपि = पवित्रामपि, विशुद्धतया निर्णीतामपि । मां = धर्मपत्नीम् । लोकापवादश्रवणात् = जनप्रवादाकर्णनात् । अहासीः=अत्याक्षीः । इति यत् तत् = त्यजनम् । श्रुतस्य = शास्त्रश्रवणस्य । कुलस्य=इक्ष्वाकुवंशस्य । सदृशं किम्=योग्यं किम् ।

समासः—मम वचनं मद्वचनं तस्मात् मद्वचनात् । अक्ष्णोः समीपे समक्षम् । वदनं वादः लोकस्य वादः लोकवादः लोकवादस्य श्रवणं लोकवादश्रवणं तस्मात् लोकवादश्रवणात् । वक्तुं योग्यो वाच्यः । विशेषेण शुद्धा विशुद्धा तां विशुद्धाम् ।

भावार्थः—हे सौम्य ! एष मम सन्देशः त्वया राजानं प्रति वक्तव्यः यत् लङ्कायां प्रत्यक्षमग्नौ विशुद्धतया निर्णीतामपि मां मिथ्यापवादेन यदत्याक्षीः तत् त्वदधीतशास्त्रस्य प्रसिद्धस्य त्वद्वंशस्य च अनुरूपमस्ति किम् ?

भाषार्थ—और राजा से जाकर तुम मेरी ओर से कहना कि आपने अपने सामने ही अग्नि से मुझे शुद्ध पाया था, इस समय लोकापवाद के भय से जो आपने मुझे छोड़ दिया है, क्या वह उस विख्यात कुल के लिए उचित है, जिसमें आपने जन्म लिया है ? ॥ ६१ ॥

कल्याणबुद्धेरथवा तवायं न कामचारो मयि शङ्कनीयः ।
ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः ॥ ६२ ॥

अन्वयः—अथवा कल्याणबुद्धेः तव मयि अयं न कामचारः (किन्तु) ममैव जन्मान्तरपातकानाम् अप्रसह्यः विपाकविस्फूर्जथुः (अस्ति) ।

सञ्जी०—अथवा कल्याणबुद्धेः सुधियस्तव कर्तुः मयि विषयेऽयं त्यागो न

कामचारं इच्छया करणं न शङ्कनीयः। कामचारशङ्कापि न क्रियत इत्यत्र इत्यर्थः। किन्तु ममैव जन्मान्तरपातकानामप्रसह्यो विपच्यत इति विपाकः फलं स एव विस्फूर्जथुरशनिनिर्घोषः। 'स्फूर्जथुर्वज्रनिर्घोषः' इत्यमरः।

व्याख्या—अथवा=यद्वा। कल्याणबुद्धेः = भद्रमतेः। तव = भवतः। मयि = सीतायाम्। अयं=परित्यागस्य एषः कामचारः=स्वेच्छाचारः। न शङ्कनीयः=न संभावनीयः किन्तु ममैव=नान्यस्य कस्यापि। जन्मान्तरपातकानां=अन्यजननपापानाम्। अप्रसह्य=असहनीयः विपाकविस्फूर्जथुः=फलरूपवज्रनिर्घोषः। अस्ति।

समासः—कल्याणी बुद्धिर्यस्य स कल्याणबुद्धिः तस्य कल्याणबुद्धेः। कामेन चारः कामचारः। शङ्कितुं योग्यः शङ्कनीयः। अन्यानि जन्मानि जन्मान्तराणि अन्यद् जन्म जन्मान्तरं जन्मान्तराणां जन्मान्तरस्य वा पातकानि जन्मान्तरपातकानि तेषां जन्मान्तरपातकानाम्। प्रकर्षे सोढुं शक्यः प्रसह्यः न प्रसह्यः अप्रसह्यः। विपच्यते इति विपाकः विपाक एव विपाकस्य वा विस्फूर्जथुः विपाकविस्फूर्जथुः।

भावार्थः—अथवा सर्वेषां प्राणिनां कल्याणकरी ते मतिरिति मयि अत्याचारस्य शङ्कैव नास्ति, किन्तु अयं भवत्कृतो मम परित्यागः ममैव जन्मान्तराचरितदुष्कर्मणामसहनीयः परिणाम एवास्ति। अतो नाहं भवन्तमुपालब्धुं शक्नोमीति भावः।

भाषार्थ—अथवा आप तो सबकी भलाई करनेवाले हैं, आप अपने मन से मेरे साथ ऐसा व्यवहार नहीं कर सकते, यह सब मेरे पूर्वजन्म के पापों का ही फल है, जो वज्रपात के समान असह्य है॥ ६२॥

उपस्थितां पूर्वमपास्य लक्ष्मीं वनं मया सार्धमसि प्रपन्नः।
तदास्पदं प्राप्य तयातिरोषात्सोढाऽस्मि न त्वद्भवने वसन्ती॥ ६३॥

अन्वयः—पूर्वम् उपस्थितां लक्ष्मीम् अपास्य मया सार्द्धं वनं प्रपन्नः असि तद् तया अतिरोषात् त्वद्भवने आस्पदं प्राप्य वसन्ती अहं सोढा न अस्मि।

सञ्जी०—पूर्वमुपस्थितां प्राप्तां लक्ष्मीमपास्य मया सार्धं वनं प्रपन्नोऽसि प्राप्तोऽसि। तत्तस्मात्तया लक्ष्म्याऽतिरोषात्त्वद्भवनम् आस्पदं प्रतिष्ठाम्। 'आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' इति निपातः। प्राप्य वसन्त्यहं सोढा नास्मि।

व्याख्या—पूर्वं=प्राक्। उपस्थितां=प्राप्ताम्। लक्ष्मीं=राजश्रियम्। अपास्य=त्यक्त्वा। मया=सीतया। सार्द्धं=सह। वनं = अरण्यम्। प्रपन्नः = प्राप्तः। असि=वर्तसे। तत्=तस्मात् कारणात्। तया = लक्ष्म्या। अतिरोषात् = कोपातिशयात्। तत् त्वद्भवनम्। आस्पदं = प्रतिष्ठाम्। प्राप्य = आसाद्य। त्वद्भवने =

भवत्प्रासादे । वसन्ती=निवसन्ती । अहं=धर्मपत्नी । सोढा=मर्षिता । न अस्मि=न भवामि ।

समासः—तव भवनं त्वद्भवनं तस्मिन् त्वद्भवने । वसतीति वसन्ती । अतिशयितः रोषः अतिरोषः तस्मात् अतिरोषात् ।

भावार्थः—हे नाथ ! पुरा प्राप्तामपि राजलक्ष्मीं त्यक्त्वा यद्भवान् मया साकं वनं गतः । ततोऽतिरोषात् साम्प्रतं भवत्प्रासादे स्थितां मां सापत्न्यदोषादसह्यमानहृदयया तयाऽहं न क्षान्तास्मि । अतः सा भवद्राजलक्ष्मीः मां वनं संप्रेष्य तत्प्रतीकारं कृतवतीति भावः ।

भाषार्थ—मुझे जान पड़ता है कि पहले आप जिस राजलक्ष्मी को त्यागकर मेरे साथ वन में चले गये थे, अब वह राजलक्ष्मी मुझसे रुष्ट हो गयी है और उससे आपके घर में प्रतिष्ठापूर्वक मेरा रहना नहीं देखा गया है ॥ ६३ ॥

निशाचरोपप्लुतभर्तृकाणां तपस्विनीनां भवतः प्रसादात् ।
भूत्वा शरण्या शरणार्थमन्यं कथं प्रपत्स्ये त्वयि दीप्यमाने ॥ ६४ ॥

अन्वयः—निशाचरोपप्लुतभर्तृकाणां तपस्विनीनां भवतः प्रसादात् शरण्या भूत्वा अद्य त्वयि दीप्यमाने अन्यं कथं प्रपत्स्ये ।

सञ्जी०—निशाचरैरुपप्लुताः पीडिताः भर्तारो यासां ता निशाचरोपप्लुतभर्तृकाः । 'नद्यृतश्च' इति कप्प्रत्ययः तासां तपस्विनीनां भवतः प्रसादादनुग्रहाच्छरण्या शरणसमर्था भूत्वा अद्य त्वयि दीप्यमाने प्रकाशमाने सत्येव शरणार्थमन्यं तपस्विनं कथं प्रपत्स्ये प्राप्स्यामि ?

व्याख्या—हे नाथ ! निशाचरोपप्लुतभर्तृकाणां = राक्षसपीडितपतीनाम् । तपस्विनीनां=तापसीनाम् । भवतः=तव पत्युः । प्रसादात्=अनुग्रहात् । शरण्या=शरणसमर्था । भूत्वा अद्य । त्वयि = भवति । दीप्यमाने = प्रकाशमाने सति । शरणार्थं=आश्रयार्थम् । अन्यं = तपस्विनम् । कथं = केन प्रकारेण । प्रपत्स्ये = प्राप्स्यामि ।

समासः—निशायां चरन्तीति निशाचराः । निशाचरैः उपप्लुता भर्तारो यासां ता निशाचरोपप्लुतभर्तृकाः तासां निशाचरोपप्लुतभर्तृकाणाम् । तपस्विनां स्त्रियः तपस्विन्यः तासां तपस्विनीनाम् । तपोऽस्ति यासां ताः तपस्विन्यः तासां तपस्विनीनाम् । दीप्यते इति दीप्यमानः तस्मिन् दीप्यमाने । शरणाय इदं शरणार्थम् । शरणे साधुः शरण्या ।

भावार्थः—हे नाथ ! याऽहं पुरा भवदनुग्रहात् राक्षसप्रपीडितपतीनां तापसीनां

शरण्या आसम् सैवाहं साम्प्रतं भवति प्रकाशमाने सति आत्मनो रक्षार्थं कथमहमन्यं तपस्विनमुपसर्पिष्यामीति भावः।

भाषार्थं—पहली वार वनवास के समय आपकी कृपा से मैंने बहुत सी ऐसी तपस्विनियों को अपने यहाँ आश्रय दिया था, जिनके पतियों को राक्षसों ने सता रखा था, अब आप ही बताइए कि आपके रहते हुए मैं किस मुँह से उन्हीं की आश्रिता होकर रहूँगी ? ॥ ६४ ॥

किंवा तदात्यन्तवियोगमोघे कुर्यामुपेक्षां हतजीवितेऽस्मिन् ।
स्याद्रक्षणीयं यदि मे न तेजस्त्वदीयमन्तर्गतमन्तरायः ॥ ६५ ॥

अन्वयः—किंवा तव अत्यन्तवियोगमोघे यस्मिन् हतजीविते उपेक्षां कुर्याम् रक्षणीयम् अन्तर्गतं त्वदीयं तेजः मे अन्तरायः न स्यात् यदि ।

सञ्जी०—किंवाऽथवा तव सम्बन्धिनाऽत्यन्तेन पुनः प्राप्तिरहितेन वियोगेन मोघे निष्फलेऽस्मिन्हतजीविते तुच्छजीवित उपेक्षां कुर्यां, कुर्यामेव। रक्षणीयं रक्षणार्हमन्तर्गतं कुक्षिस्थं त्वदीयं तेजः शुक्रं गर्भरूपम्। 'शुक्रं तेजो रेतसी च बीजवीर्येन्द्रियाणि च' इत्यमरः। यदि मे ममान्तरायो विघ्नो न स्यात्।

व्याख्या—हे नाथ ! किंवा=अथवा। रक्षणीयं = रक्षणयोग्यम्। अन्तर्गतं = अभ्यन्तरस्थितम्, कुक्षिस्थम्। त्वदीयम् = भवदीयम्। तेजः = शुक्रं गर्भरूपम्। यदि=चेत्। मे=मम। अन्तरायः=विघ्नः। न स्यात्=नो भवेत्। तर्हि ते = तव, भवतः। अत्यन्तवियोगमोघे = निरवधिविरहनिष्फले। अस्मिन् = प्रस्तुते। हतजीविते=तुच्छजीवने। उपेक्षां = अनास्थाम्। कुर्यां=विदधीय।

समासः—अत्यन्तं वियोगः अत्यन्तवियोगः अत्यन्तवियोगेन मोघम् अत्यन्तवियोगमोघम् तस्मिन् अत्यन्तवियोगमोघे। हतं च तद् जीवितं हतजीवितम् तस्मिन् हतजीविते। तव इदं त्वदीयम्।

भावार्थः—हे नाथ ! यदि त्वदीयं तेजो गर्भरूपेण मयि नावस्थितं स्यात्तर्हि ते निरवधिकविरहेण निष्फलं जीवनं नूनं सन्त्यजेयम्। केवलं मम गर्भिणीत्वमेव जीवनत्यागेऽस्ति प्रतिबन्धकमिति भावः।

भाषार्थ— यदि मेरे गर्भ में आया हुआ आपका वह तेज बाधक नहीं होता जिसकी रक्षा करना आवश्यक है, तो मैं आपसे सदा के लिए वियुक्त अपने अभागे प्राणों को छोड़ देती ॥ ६५ ॥

साऽहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये ।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः ॥ ६६ ॥

अन्वयः — सा अहं प्रसूते ऊर्ध्वं सूर्यनिविष्टदृष्टिः (सती) तपः चरितुं यतिष्ये यथा भूयः मम जन्मान्तरे अपि त्वमेव भर्ता (स्याः) विप्रयोगः च न (स्यात्)।

सञ्जी०—साऽहं प्रसूतेरूर्ध्वं सूर्यनिविष्टदृष्टिः सती यथाविधं तपश्चरितुं यतिष्ये। यथा भूयस्तेन तपसा मे मम जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता स्याः विप्रयोगश्च न स्यात्।

व्याख्या—हे नाथ ! सा=तादृशी, भवत्परित्यक्ता। अहं = सीता। प्रसूतेः= प्रसवात् ऊर्ध्वम्=अनन्तरम्। सूर्यनिविष्टदृष्टिः=भास्करनिहितनयना, सती तपः= तादृशं नियमानुष्ठानं चरितुं=कर्तुं यतिष्ये=प्रयतिष्यामि। यथा=येन प्रकारेण। भूयः=पुनः। मे=मम। जन्मान्तरे अपि=अन्यस्मिन् जन्मनि अपि। त्वम् एव= भवान् एव। भर्ता=पतिः स्याः, विरहश्च न स्यात्।

समासः— सूर्ये निविष्टा दृष्टिः यस्याः सा सूर्यनिविष्टदृष्टिः यद्वा निविष्टे दृष्टि यस्याः सा निविष्टदृष्टिः सूर्ये निविष्टदृष्टिः सूर्यनिविष्टदृष्टिः। अन्यद् जननं जननान्तरं तस्मिन् जननान्तरे।

भावार्थः—हे नाथ ! प्रसवानन्तरमहं सूर्ये दृष्टिं निधाय तादृशं तपश्चरिष्यामि येन जन्मान्तरेऽपि भवानेव पतिः स्यात्, आवयोः विरहश्च न भवेदिति भावः।

भाषार्थ— वह मैं पुत्र हो जाने के बाद सूर्य में दृष्टि लगाकर ऐसी तपस्या करने का प्रयत्न करूंगी, जिससे अगले जन्म में भी आप ही मेरे पति हों और आपसे मेरा वियोग न होने पाये ॥ ६६ ॥

> नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्स एव धर्मो मनुना प्रणीतः।
> निर्वासिताप्येवमतस्त्वयाऽहं तपस्विसामान्यमवेक्षणीया ॥ ६७ ॥

अन्वयः— वर्णाश्रमपालनं यत् स एव नृपस्य धर्मः मनुना प्रणीतः अतः एवं त्वया निर्वासिता अपि अहं तपस्विसामान्यम् अवेक्षणीया।

सञ्जी०—वर्णानां ब्राह्मणादीनामाश्रमाणां ब्रह्मचर्यादीनां च पालनं यत्स एव नृपस्य धर्मो मनुना प्रणीत उक्तः। अतः कारणादेवं त्वया निर्वासिता निष्कासिताऽप्यहं तपस्विभिः सामान्यं साधारणं यथा भवति तथाऽवेक्षणीया। कलत्रदृष्ट्यभावेऽपि वर्णाश्रमदृष्टिः सीतायां कर्तव्येत्यर्थः।

व्याख्या—हे नाथ ! वर्णाश्रमपालनं = ब्राह्मणादिवर्णब्रह्मचर्याद्याश्रमसंरक्षणं यत् स एव नृपस्य=राज्ञः। धर्मः = अभ्युदयसाधनम्। मनुना = स्वायम्भुवेन भवत्पूर्वजेन राज्ञा। प्रणीतः = उक्तः। अतः = अस्मात् कारणात्। एवं = इत्थम्।

त्वया=भवता। निर्वासिता अपि=निष्कासिता अपि। अहं = धर्मपत्नी। तपस्वि-सामान्यं = तापससाधारणम्। यथा तथा अवेक्षणीया=अवलोकनीया।

समासः--वर्णाश्च आश्रमाश्च वर्णाश्रमाः वर्णाश्रमाणां पालनं वर्णाश्रमपालनम्। नॄन् पातीति नृपः तस्य नृपस्य। तप एषामस्तीति तपस्विनः तपस्विभिः सामान्यं तपस्विसामान्यम्।

भावार्थः—हे नाथ! भवत्पूर्वपुरुषेण राज्ञा स्वायम्भुवेन मनुना ब्राह्मणादि-वर्णानाम्, ब्रह्मचर्याद्याश्रमाणाञ्च संरक्षणं राज्ञां धर्मतत्त्वेनाभिहितः। अतो राज्ञः वर्णाश्रमधर्मपरिपालनस्यापरिहार्यत्वात् निर्वासिता वनवासिनी अपि अहं साम्प्रतं मयि माभूद् भार्यादृष्टिः किन्तु इयमस्ति मदीया काचित्तपस्विनी प्रजेति बुद्धया भवता कृपयाऽहं दर्शनीयाऽस्मीति भावः।

भाषार्थ—भगवान् मनु ने वर्ण और आश्रमों की रक्षा करना राजाओं का धर्म बतलाया है। इसलिए घर से बाहर निकाल देने पर भी यह समझकर मेरी देखभाल करते रहिए, कि मैं भी आपकी प्रजा और तपस्विनी हूं। अर्थात् तपस्विनी समझकर ही मेरी रक्षा कीजिएगा॥ ६७॥

तथेति तस्याः प्रतिगृह्य वाचं रामानुजे दृष्टिपथं व्यतीते।
सा मुक्तकण्ठं व्यसनातिभाराच्चक्रन्द विग्ना कुररीव भूयः॥ ६८॥

अन्वयः—तथा इति तस्याः वाचं प्रतिगृह्य रामानुजे दृष्टिपथं व्यतीते (सति) सा व्यसनातिभारात् मुक्तकण्ठं विग्ना कुररी इव चक्रन्द।

सञ्जी०—तथेति तस्याः सीतायाः वाचं प्रतिगृह्याङ्गीकृत्य रामानुजे लक्ष्मणे दृष्टिपथं व्यतीतेऽतिक्रान्ते सति सा सीता व्यसनातिभाराद् दुःखातिरेकान्मुक्तकण्ठं यथा स्यात्तथा वाग्वृत्त्येत्यर्थः। विग्ना भीता कुररीवोत्क्रोशीव। 'उत्क्रोशकुररौ समौ' इत्यमरः। भूयिष्ठं चक्रन्द चुक्रोश।

व्याख्या—तथा इति=तेनैव प्रकारेण, भवत्याः सन्देशमवश्यं राजानं प्रति प्रापयिष्यामीति तस्याः=सीतायाः। वाचं = वचनजातम्। प्रतिगृह्य=स्वीकृत्य। रामानुजे = श्रीरामावरजे, लक्ष्मणे। दृष्टिपथं = दर्शनमार्गं लोचनगोचरताम्। व्यतीते=अतिक्रम्य गते, अतिक्रान्ते सति। सा = सीता। व्यसनातिभारात् = दुःखातिरेकात्। विग्ना=त्रस्ता। कुररी=उपक्रोशी इव। मुक्तकण्ठं = मुक्तकण्ठ-स्वरम्। भूयः=पुनः भूयिष्ठं चक्रन्द=चुक्रोश।

समासः—रामस्यानुजः रामानुजः तस्मिन् रामानुजे। अतिशयितो भारः

अतिभार: तस्मात् अतिभारात् । मुक्तः कण्ठः यस्मिन् तद् यथा भवति तथा मुक्त-कण्ठम् । दृष्टयोः पन्था दृष्टिपथः तं दृष्टिपथं ।

भावार्थः—तथैव भवत्या सन्देशं भ्रातरमहं कथयिष्यामि इति सीतायाः कथनमङ्गीकृत्य लक्ष्मणे लोचनगोचरतामतिक्रान्ते सीता दुःखातिशयात् कुररीव कातरा तारस्वरेण रोदितुमारब्धवतीति भावः ।

भाषार्थ—यह सुनकर लक्ष्मण बोले– अच्छा, मैं सब कह दूँगा, यह कहकर वे ज्यों ही आँखों से ओझल हो गये, त्यों ही विपत्ति के भार से व्याकुल होकर सीताजी कुररी के समान पुक्का फाड़कर फिर रोने लगीं ॥ ६८ ॥

नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान्विजहुर्हरिण्यः ।
तस्याः प्रपन्ने समदुःखभावमत्यन्तमासीद्रुदितं वनेऽपि ॥ ६९ ॥

अन्वयः—मयूराः नृत्यं विजहुः वृक्षा कुसुमानि हरिण्यः उपात्तान् दर्भान् इत्थं तस्याः समदुःखभावं प्रपन्ने वने अपि अत्यन्तं रुदितं आसीत् ।

सञ्जी०—मयूरा नृत्यं विजहुस्त्यक्तवन्तः । वृक्षाः कुसुमानि, हरिण्य उपात्तान्दर्भान् । इत्थं तस्याः सीतायाः समदुःखभावं प्रपन्ने तुल्यदुःखत्वं प्राप्ते वनेऽत्यन्तं रुदितमासीत् । यथा रामगेहेऽपीत्यपिशब्दार्थः ।

व्याख्या—मयूराः=बर्हिणः, नीलकण्ठाः । नृत्यं=नर्तनम् । विजहुः=त्यक्तवन्तः । वृक्षाः=पादपाः । कुसुमानि = पुष्पाणि परिजहुः । हरिण्यः = मृग्यः । उपात्तान्=मुखे खादितुं गृहीतान् । दर्भान्=कुशान् तत्यजुः । इत्थं सीतायाः समदुःखभावं=तुल्यकष्टत्वम् । प्रपन्ने = प्राप्ते । वने अपि=अरण्ये अपि किमु श्रीरामस्य प्रासादेऽयोध्यायाञ्च । अत्यन्तं=अत्यर्थम् । रुदितं=रोदनम् । आसीत्=अभवत् । एवं समस्तं वनं समदुःखतया व्याप्तम् ।

समासः—हरिणानां स्त्रियः हरिण्यः । समं च तद् दुःखमिति समदुःखम् समदुःखस्य भावः समदुःखभावः तं समदुःखभावम् ।

भावार्थः—तदानीं तस्मिन् वने सीताया आर्तस्वरं निशम्य बर्हिणो नृत्यं तत्यजुः, पादपाः पुष्पाणि परितत्यजुः, मृग्यश्च जग्धुमारब्धान् दर्भाङ्कुरान् मुखादपातयन् । इत्थं सीतायाः समानभावेन समस्तं वनं व्याप्तमासीदिति भावः ।

भाषार्थ—सीता का रोना सुनकर मोरों ने नाचना बन्द कर दिया, वृक्ष पुष्पों के आँसू गिराने लगे और हरिणियों ने मुँह में भरी हुई घास का कौर गिरा दिया, इस प्रकार सीताजी के दुःख से दुःखी होकर सारा जङ्गल रोने लगा ॥६९॥

तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाय यातः।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः ॥ ७० ॥

अन्वयः— कुशेध्माहरणाय यातः कविः रुदितानुसारी ताम् अभ्यगच्छत् निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः यस्य शोकः श्लोकत्वम् आपद्यत।

सञ्जी०—कुशेध्माहरणाय यातः कविर्वाल्मीकी रुदितानुसारी सन् तां सीतामभ्यगच्छत्। अभिगमनं च दयालुतयेत्याह—निषादेति। निषादेन व्याधेन विद्धस्याण्डजस्य क्रौञ्चस्य दर्शनेनोत्थ उत्पन्नो यस्य शोकः श्लोकत्वमापद्यत। श्लोकरूपेणपरिवर्तित इत्यर्थः। स च श्लोकः पठ्यते—'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥' इति। तिरश्चामपि दुखं न सेहे किमुतान्येषामिति भावः।

व्याख्या—कुशेध्माहरणाय=दर्भसमिधानयनाय। यातः = प्राप्तः। कविः = आदिकविः वाल्मीकिमुनिः। रुदितानुसारी=सीताक्रन्दनरवानुगामी। तां=सीताम्। अभ्यगच्छत्=उपाव्रजत्। निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः=व्याधविद्धविलोकनोत्पन्नः। यस्य = कवेः। शोकः=करुणारसस्यापि भावो विषादः। श्लोकत्वं = पद्यत्वम्। आपद्यत = पर्यवर्तत। व्याधविद्धक्रौञ्चदर्शनेन सञ्जातो यस्य शोकः = पद्यभावं प्राप्तवानित्यर्थः। महर्षेः वाल्मीकेरादिकवित्वविषये रामायणीयोऽयमितिहासोऽनुसन्धेयः। एकदा वाल्मीकिमुनिः यदा स्वशिष्येण भरद्वाजेन साकं तमसातीरे स्नातुमुपगत आसीत्तदा एको व्याधो मधुरं कूजत् निर्भयञ्च विहरत् क्रौञ्चपक्षिणोः मिथुनमवलोक्य पश्यत एव मुनेः तयोरेकं पुमांसं क्रौञ्चं बाणेन विव्याध। तेन निहतं शोणितपरीताङ्गं पृथिव्यां पतितं पक्षती चालयन्तं तं क्रौञ्चं पतिमवेक्ष्य क्रौञ्ची करुणया चीत्कारं कुर्वन्ती कुररीव चक्रन्द। तद् दुर्दर्शं दृश्यमालोक्य करुणाक्रान्तचेतसो मुनेर्मुखात् सहसा पद्यमिदं निस्ससार—

'मा निषाद ! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥'—१।२।१५ ॥

तदनन्तरं शापवाक्येन मुनेः यदा महती चिन्ता जाता तदा ब्रह्मा स्वयमुपस्थाय तं सान्त्वयन् प्रोवाच—मुने ! मत्प्रेरणया सरस्वती ते जिह्वायामुपविष्टाऽस्ति। इतः परं त्वं निर्भयो भूत्वा श्लोकबद्धं रुचिरं रामचरितं वर्णय। तदनुसारं समाधियोगात् सर्वं प्रत्यक्षीकृत्य स रामायणाख्यं महाकाव्यं निर्माय आदिकविर्बभूव।

समासः— कुशाश्च इध्मानि च कुशेध्मानि कुशेध्मनां हरणं कुशेध्माहरणं तस्मै कुशेध्माहरणाय। रुदितुमनुसरतीति रुदितानुसारी। निषादेन विद्धः निषादविद्धः

अण्डाज्जातः अण्डजः निषादविद्धश्चासौ अण्डजः निषादविद्धाण्डजः तस्य निषाद-विद्धाण्डजस्य दर्शनं निषादविद्धाण्डजदर्शनं तेन निषादविद्धाण्डजदर्शनेन। श्लोकस्य भावः श्लोकत्वं तत् श्लोकत्वम्।

भावार्थः—निषादविद्धक्रौञ्चदर्शनेन तत्पत्न्याः क्रौञ्च्या आक्रन्दने च सञ्जातो यस्य शोकः श्लोकत्वेन परिणतः, कुशसमिधानयनाय प्रस्थितः स महर्षिवाल्मीकिः रोदनध्वनिमनुसंदधानः सीतासम्मुखमुपजगामेति भावः।

भाषार्थ—जिस महाकृपालु वाल्मीकि ऋषि का शोक व्याध के द्वारा मारे गये क्रौञ्च पक्षी को देखकर श्लोक बनकर निकल पड़ा था, वे उस समय कुश और लकड़ी लेने के लिए आश्रम से चले हुए थे, रोने का शब्द सुनकर वे सीताजी की ओर आये ॥ ७० ॥

तमश्रु नेत्रावरणं प्रमृज्य सीता विलापाद्विरता ववन्दे।
तस्यै मुनिर्दोहृदलिङ्गदर्शी दाश्वान्सुपुत्राशिषमित्युवाच ॥ ७१ ॥

अन्वयः—सीता विलापात् विरता (सती) नेत्रावरणं अश्रु प्रमृज्य तं ववन्दे दोहृदलिङ्गदर्शी मुनिः तस्यै सुपुत्राशिषं दाश्वान् इति उवाच।

सञ्जी०—सीता विलापाद्विरता सती नेत्रावरणं दृष्टिप्रतिबन्धकमश्रु प्रमृज्य तं मुनिं ववन्दे। दोहृदलिङ्गदर्शी गर्भचिह्नदर्शी मुनिस्तस्यै सीतायै सुपुत्राशिषं तत्प्राप्तिहेतुभूतां दाश्वान्दत्तवानिति वक्ष्यमाणप्रकारेणोवाच। 'दाश्वान्साह्वान्मीढ्वांश्च' इति क्वस्वन्तो निपातः।

व्याख्या – सीता=जानकी। विलापात्=परिदेवनात्, शोकोद्गारात्। विरता=निवृत्ता सती नेत्रावरणं=लोचनप्रतिबन्धकम्। अश्रु=नयनजलम्। प्रमृज्य=मार्जित्वा, संशोध्य। तं=मुनिम्। ववन्दे=अभिवादितवती। 'दोहृदलिङ्गदर्शी=गर्भचिह्नदर्शी। मुनिः=ऋषिः वाल्मीकिः। तस्यै=सीतायै। सुपुत्राशिषं=सत्पुत्र-प्राप्त्याशीर्वादम्। दाश्वान्=प्रदत्तवान्। इति=वक्ष्यमाणम्। उवाच=जगाद।

समासः—आव्रियतेऽनेनेत्यावरणं नेत्रयोरावरणं नेत्रावरणं तत् नेत्रावरणम्। दोहृदस्य लिङ्गं पश्यतीति तच्छीलः दोहृदलिङ्गदर्शी। शोभनश्चासौ पुत्रश्चेति सुपुत्रः सुपुत्रस्याशीः सुपुत्राशीः तां सुपुत्राशिषम्।

भावार्थः—सीता शोकविलापं विहाय लोचनजलं वस्त्राञ्चलेन सम्प्रोञ्छ्य च महर्षिवाल्मीकिमभिवादितवती। स च मुनिः तस्याः गर्भिणीचिह्नं विलोक्य सत्पुत्र-प्राप्त्याशीर्वादं प्रदाय वक्ष्यमाणं वचः प्रोवाचेति भावः।

भाषार्थ—उन्हें देखकर सीताजी ने रोना बन्द कर दिया और नेत्र के आवरण

आँसू को पोंछकर मुनि को प्रणाम किया। ऋषि ने गर्भ के चिह्न देखकर उन्हें पुत्रवती होने का आशीर्वाद देकर कहा ॥ ७१ ॥

जाने विसृष्टां प्रणिधानतस्त्वां मिथ्यापवादक्षुभितेन भर्त्रा ।
तन्मा व्यथिष्ठा विषयान्तरस्थं प्राप्ताऽसि वैदेहि ! पितुर्निकेतम् ॥ ७२ ॥

अन्वयः—त्वां मिथ्यापवादक्षुभितेन भर्त्रा विसृष्टां प्रणिधानतः जाने हे वैदेहि ! विपयान्तरस्थं पितुः निकेतं प्राप्ता असि तत् मा व्यथिष्ठाः ।

सञ्जी०—त्वां मिथ्यापवादेन क्षुभितेन भर्त्रा विसृष्टां त्यक्तां प्रणिधानतः समाधिदृष्ट्या जाने। हे वैदेहि ! विषयान्तरस्थं देशान्तरस्थं पितुर्जनकस्यैव निकेतं गृहं प्राप्ताऽसि। तत्तस्मान्मा व्यथिष्ठा मा शोचीः। व्यथेर्लुङ्। 'न माङ्योगे' इत्यडागमप्रतिषेधः। भर्त्रोपेक्षितानां पितृगृहवास एवोचित इति भावः।

व्याख्या—हे वैदेहि !=हे मैथिलि !। त्वां=भवतीम्। मिथ्यापवादक्षुभितेन=मृषाजनवादप्राप्तक्षोभेण। भर्त्रा = पत्या, श्रीरामेण। विसृष्टां = त्यक्ताम्। प्रणिधानतः=चित्तावधानतः, समाधिदृष्ट्या। जाने=अवगच्छामि। विषयान्तरस्थं = देशान्तरभवं। पितुः=जनकस्य। निकेतं=गृहम्। प्राप्ता = आसादिता। असि = वर्तसे। तत्=तस्मात् कारणात्। मा व्यथिष्ठाः=मा शोचीः। भर्त्रोपेक्षितानां वधूनां पितृगृहवास एवोचित इत्यर्थः।

समासः—मिथ्या अपवादः मिथ्यापवादः मिथ्यापवादेन क्षुभितः मिथ्यापवादक्षुभितः तेन मिथ्यापवादक्षुभितेन। अन्यो विषयः विषयान्तरं विषयान्तरे तिष्ठतीति विषयान्तरस्थं तत् विषयान्तरस्थम्। विदेहस्यापत्यं स्त्रीः वैदेही तत्सम्बुद्धौ हे वैदेहि !।

भावार्थः—हे कल्याणि ! त्वां मिथ्यापवादाद्व्याकुलेन श्रीरामेण परित्यक्तां योगदृष्ट्याऽहं जाने। वैदेहि ! त्वं देशान्तरस्थं जनकगृहमेवागताऽसि। तन्मा शोचीरिति भावः।

भाषार्थ—बेटी ! योगबल से मैंने जान लिया है कि तुम्हारे पति ने झूठी लोकनिन्दा के भय से तुम्हें त्याग दिया है। हे जनककुमारी ! यहाँ भी तुम दूर देश में स्थित अपने पिता का ही घर समझो और शोक करना छोड़ दो ॥७२॥

उत्खातलोकत्रयकण्टकेऽपि सत्यप्रतिज्ञेऽप्यविकत्थनेऽपि ।
त्वां प्रत्यकस्मात्कलुषप्रवृत्तावस्त्येव मन्युर्भरताग्रजे मे ॥ ७३ ॥

अन्वयः—उत्खातलोकत्रयकण्टके अपि सत्यप्रतिज्ञे अपि अविकत्थने अपि त्वां प्रति अकस्मात् कलुषप्रवृत्तौ भरताग्रजे मे मन्युः (अस्त्येव) ।

सञ्जी०—उत्खातलोकत्रयकण्टकेऽपि रावणादिकण्टकोद्धरणेन सर्वलोकोपकारिण्यपीत्यर्थः। सत्यप्रतिज्ञे सत्यसन्धेऽपि अविकत्थनेऽनात्मश्लाघिन्यपि इत्थं स्नेहपात्रेऽपि त्वां प्रत्यकस्मादकारणात्कलुषप्रवृत्तौ गर्हितव्यापारे भरताग्रजे मे मन्युः कोपोऽस्त्येव। सर्वगुणाच्छादकोऽयं दोष इत्यर्थः। सीतानुनयार्थोऽयं रामोपालम्भः।

व्याख्या—हे वैदेहि! उत्खातलोकत्रयकण्टके अपि=उद्धृतभुवनत्रितयकण्टके अपि, रावणादिकण्टकोद्धारेण सर्वलोकोपकारिण्यपि। सत्यप्रतिज्ञे अपि=सत्यसन्धे अपि। अविकत्थने अपि = आत्मश्लाघारहिते अपि, इत्थं स्नेहपात्रे अपि। त्वां प्रति=धर्मपत्नीं सीतां प्रति। अकस्मात्=अकारणात्। कलुषप्रवृत्तौ=गर्हितव्यापारे। भरताग्रजे=भरतभ्रातरि श्रीरामे। मे=मम। मन्युः=कोपः अस्ति। एव=वर्तते एव। सर्वगुणाच्छादकोऽयं धर्मपत्नीनिर्वासनरूपो दोष एव।

समासः—लोकानां त्रयं लोकत्रयं लोकत्रयस्य कण्टकः लोकत्रयकण्टकः उत्खातः लोकत्रयकण्टको येन सः उत्खातलोकत्रयकण्टकः तस्मिन् उत्खातलोकत्रयकण्टके। सत्या प्रतिज्ञा यस्य सः सत्यप्रतिज्ञः तस्मिन् सत्यप्रतिज्ञे। न विकत्थनः अविकत्थनः तस्मिन् अविकत्थने। कलुषा प्रवृत्तिर्यस्य सः कलुषप्रवृत्तिः तस्मिन् कलुषप्रवृत्तौ। भरतस्य अग्रजः भरताग्रजः तस्मिन् भरताग्रजे।

भावार्थः—लोकत्रयकण्टकस्य रावणस्योन्मूलनेन सत्यप्रतिज्ञतया आत्मप्रशंसानर्हत्वेन च स्नेहादरभाजनेऽपि रामे पतिव्रतोत्तमायास्तव परित्यागेन गर्हिताचरणात् नितरां कुपितोऽस्मीति भावः।

भाषार्थ—यद्यपि राम तीनों लोकों का दुःख दूर करनेवाले हैं, अपनी प्रतिज्ञा के पक्के हैं और अपने मुँह से अपनी बड़ाई भी नहीं करते फिर भी तुम्हारे साथ उन्होंने जो यह अभद्र व्यवहार किया है, इससे मुझे उनपर बड़ा क्रोध आ रहा है॥ ७३॥

तवोरुकीर्तिः श्वशुरः सखा मे सतां भवोच्छेदकरः पिता ते।
धुरि स्थिता त्वं पतिदेवतानां किं तन्न येनासि ममानुकम्प्या॥ ७४॥

अन्वयः—उरुकीर्तिः तव श्वशुरः मे सखा ते जनकः सतां भवोच्छेदकरः त्वं पतिदेवतायां धुरि स्थिता येन मम अनुकम्प्या न असि तत् किम्।

सञ्जी०—उरुकीर्तिस्तव श्वशुरो दशरथो मे सखा। ते पिता जनकः सतां विदुषां भवोच्छेदकरो ज्ञानोपदेशादिना संसारदुःखध्वंसकारी। त्वं पतिदेवतानां पतिव्रतानां धुर्यग्रे स्थिता। येन निमित्तेन ममानुकम्प्याऽनुग्राह्या नासि तत्किम्। न किंचिदित्यर्थः।

व्याख्या—हे वैदेहि ! उरुकीर्तिः=महायशाः । तव = भवत्याः । श्वशुरः=पतिपिता, दशरथः । मे=मम । सखा = मित्रम् । ते = तव । पिता = जनकः । सतां=विदुषाम् । भवोच्छेदकरः = तत्त्वोपदेशद्वारा संसारदुःखनिवर्तकः । त्वं = सीता च पतिदेवतानां=पतिव्रतानाम् धुरि=अग्रे । स्थिता = विद्यमाना । येन = कारणेन । मम=मुनेः अनुकम्प्या=अनुग्राह्या न असि=न वर्तसे । तत्=कारणम् । किम् = किमस्ति, न किञ्चिदित्यर्थः ।

समासः—उरुः कीर्तिर्यस्य स उरुकीर्तिः । करोतीति करः भवस्योच्छेदः भवोच्छेदः भवोच्छेदस्य करः भवोच्छेदकरः । देव एव देवता पतिः देवता यासां ता पतिदेवताः तासां पतिदेवतानाम् । अनुकम्पितुं योग्या अनुकम्प्या । सन्तीति सन्तः तेषां सताम् ।

भावार्थः—हे वैदेहि ! महायशास्ते श्वशुरो दशरथो मम सुहृदस्ति, तव जनको राजा जनकस्तु ज्ञानोपदेशद्वारा सत्पुरुषाणां संसारसागरात् उद्धर्ता एवास्ति, त्वमपि पतिपरायणानां पतिव्रतानां मध्ये अग्रगण्या वर्तसे । अतस्त्वं सर्वथैव ममानुग्राह्याऽसीति भावः ।

भाषार्थ—बड़े यशस्वी तुम्हारे श्वशुर मेरे मित्र थे और तुम्हारे पिता भी ज्ञानोपदेश देकर बहुत से विद्वानों को संसार के बन्धन से छुड़ाते हैं, तुम स्वयं पतिव्रताओं में सर्वश्रेष्ठ हो और फिर तुममें ऐसा दोष ही कौन सा है, जो मैं तुम्हारे पर कृपा न करूँ ? ॥ ७४ ॥

तपस्विसंसर्गविनीतसत्त्वे तपोवने वीतभया वसाऽस्मिन् ।
इतो भविष्यत्यनघप्रसूतेरपत्यसंस्कारमयो विधिस्ते ॥ ७५ ॥

अन्वयः—तपस्विसंसर्गविनीतसत्त्वे अस्मिन् तपोवने वीतभया वस । इतः अनघप्रसूतेः ते अपत्यसंस्कारमय विधिः भविष्यति ।

सञ्जी०—तपस्विसंसर्गेण विनीतसत्त्वे शान्तजन्तुकेऽस्मिंस्तपोवने वीतभया निर्भीका वस । इतोऽस्मिन्वनेऽनघप्रसूतेः सुखप्रसूतेस्तेऽपत्यसंस्कारमयो जातकर्मादिरूपो विधिरनुष्ठानं भविष्यति ।

व्याख्या—हे वैदेहि ! तपस्विसंसर्गविनीतसत्त्वे = तापससम्पर्कशान्तजन्तुके । अस्मिन् तपोवने=अत्र तापसाश्रमे । वीतभया=निर्भीका सती वस=निवासं कुरु । अस्मिन् वने अनघप्रसूतेः = सुखप्रसवायाः । ते = तव, सीतायाः । अपत्यसंस्कारमयः = पुत्रसंस्काररूपः, जातकर्मादिसंस्कारस्वरूपः । विधिः=अनुष्ठानम् । भविष्यति=भविता ।

समासः—तप एषामस्तीति तपस्विनः तपस्विनां संसर्गः तपस्विसंसर्गः तपस्वि-

संसर्गेण विनीताः सत्त्वाः यस्मिन् तत् तपस्विसंसर्गविनीतसत्त्वं तस्मिन् तपस्विसंसर्ग-विनीतसत्त्वे । तपसः वनं तपोवनं तस्मिन् तपोवने । न विद्यते अघं यस्यां सा अनघा, अनघा प्रसूतिः यस्याः सा अनघप्रसूतिः तस्या अनघप्रसूतेः । अपत्यस्य संस्कारः अपत्यसंस्कारः प्रकृतः अपत्यसंस्कारः अपत्यसंस्कारमयः ।

भावार्थः—हे वत्से ! तापसानां सहवासेन अत्र वने गोव्याघ्रादयो जन्तवोऽपि एकत्रैव तिष्ठन्ति । अतो न ते हिंस्रकप्राणिभ्यो भयं वर्तते । अपि चात्र सुखप्रसवा-यास्ते सन्ततेः जातकर्मादिस्वरूपाः संस्काराः सम्यक् सम्पत्स्यन्ते । अतश्चिन्ता-रहिता सती त्वं तिष्ठेति भावः ।

भाषार्थ—देखो, तपस्वियों के साथ रहते-रहते यहाँ के सब जीव बड़े सीधे हो गये हैं, ये वेचारे किसी से कुछ कहते-सुनते नहीं, इसी आश्रम में तुम भी निर्भय होकर रहो, तुम्हारी पवित्र सन्तान के जातकर्म आदि संस्कार मैं यहीं करूंगा ॥ ७५ ॥

अशून्यतीरां मुनिसन्निवेशैस्तमोपहन्त्रीं तमसां वगाह्य ।
तत्सैकतोत्सङ्गबलिक्रियाभिः सम्पत्स्यते ते मनसः प्रसादः ॥ ७६ ॥

अन्वयः—मुनिसन्निवेशैः अशून्यतीरां तमोपहन्त्रीं तमसां वगाह्य तत्सैकतो-त्सङ्गबलिक्रियाभिः ते मनसः प्रसादः सम्पत्स्यते ।

सञ्जी०—सन्निविशन्ते येष्विति सन्निवेशा उटजाः अधिकरणार्थे घञ्प्रत्ययः । मुनीनां सन्निवेशैरुटजैरशून्यतीरां पूर्णतीरां तमसः शोकस्य पापस्य वाऽपहन्त्रीम् । 'तमस्तु क्लीबे पापे नरकशोकयोः' इत्यमरः । तमसां नदीं वगाह्य तत्र स्नात्वा बलिक्रियापेक्षया पूर्वकालता । तस्या सैकतोत्सङ्गेषु बलिक्रियाभिरिष्टदेवतापूजा-विधिभिस्ते मनसः प्रसादः सम्पत्स्यते भविष्यति ।

व्याख्या— मुनिसन्निवेशैः=मुनिपर्णशालाभिः । अशून्यतीराम्=जनपूर्णकुटीम् । तमोपहन्त्रीम् = शोकनिवारिणीम्, पापवारिणीम् । तमसां = तमसाख्यां नदीम्, सरितम् । वगाह्य=अवगाह्य, तमसायां स्नात्वा । तत्सैकतोत्सङ्गबलिक्रियाभिः = तत्तीरसमीपपूजानुष्ठानैः । ते=तव । मनसः = चित्तस्य । प्रसादः = प्रसन्नता । सम्पत्स्यते=भविष्यति ।

समासः—सन्निविशन्ते येषु इति सन्निवेशाः मुनीनां सन्निवेशाः मुनिसन्निवेशाः तैः मुनिसन्निवेशैः । न शून्यमशून्यम् अशून्यं तीरं यस्या सा अशून्यतीरा ताम् अशून्यतीराम् । अपहन्तीति अपहन्त्री तमसः अपहन्त्री तमोपहन्त्री तां तमोपहन्त्रीम् । प्रकृताः सिकताः सैकताः सैकतानाम् उत्सङ्गाः सैकतोत्सङ्गाः तस्याः सैकतोत्सङ्गाः

तत्सैकतोत्सङ्गाः तेषु तत्सैकतोत्सङ्गेषु याः बलिक्रियाः ताः तत्सैकतोत्सङ्गबलिक्रियाः ताभिः तत्सैकतोत्सङ्गबलिक्रियाभिः।

भावार्थः—सीते! तमसातीरपरिसरे बह्व्यो मुनीनां पर्णशालाः सन्ति, अतस्ते औदासिन्यं न भविष्यति। अपि च मुनिपर्णकुटीभिः पूर्णतटायां दुःखाद्यपहन्त्र्यां तमसायां नद्यां स्नात्वा तस्यास्तटे स्वेष्टदेवतापूजादिकं विधाय त्वं प्रसन्ना भविष्यति। अतोऽत्र तपोवने ते न किमपि कष्टं नाप्युदासीनता भविष्यतीति भावः।

भाषार्थ—पापापहारी जिस तमसा नदी के किनारे तपस्वी लोग सदा सन्ध्या-वन्दन-पूजा आदि करते हैं, उसमें स्नान करके तुम उसके रेतीले तीर पर अपनी इष्टदेवताओं की पूजा क्रिया करो, इससे तुम्हारा मन प्रसन्न रहेगा॥ ७६॥

पुष्पं फलं चार्तवमाहरन्त्यो बीजं च बालेयमकृष्टरोहि।
विनोदयिष्यन्ति नवाभिषङ्गामुदारवाचो मुनिकन्यकास्त्वाम्॥ ७७॥

अन्वयः—आर्तवं पुष्पं फलं च अकृष्टरोहि बालेयं बीजं च आहरन्त्यः उदारवाचः मुनिकन्यकाः नवाभिषङ्गां त्वां विनोदयिष्यन्ति।

सञ्जी०—ऋतुरस्य प्राप्तं आर्तवम्। स्वकालप्राप्तमित्यर्थः। पुष्पं फलं च अकृष्टरोह्यकृष्टक्षेत्रोत्थम्। अकृष्टपच्यमित्यर्थः। बलये हितं बालेयं पूजायोग्यम्। 'छदिरुपधिबलेर्ढञ्' इति ढञ्प्रत्ययः, बीजं नीवारादि धान्यं चाहरन्त्य उदारवाचः प्रगल्भगिरो मुनिकन्यकाः नवाभिषङ्गां नूतनदुःखां त्वां विनोदयिष्यन्ति।

व्याख्या—हे वैदेहि! आर्तवं=तत्तदृतूद्भूतम्। पुष्पं = कुसुमम्। फलं=सस्यं च अकृष्टरोहि = अकृष्टक्षेत्रोत्पन्नम्। बालेयं = पूजायोग्यम्। बीजं च = अङ्कुरश्च नीवारादिधान्यं च आहरन्त्यः=आनयन्त्यः। उदारवाचः=मधुरभाषिण्यः प्रगल्भगिरः। मुनिकन्यकाः=तापसबालिकाः, मुनिकुमार्यः। नवाभिषङ्गां=नूतनदुःखाम्। त्वां=भवतीं सीताम्। विनोदयिष्यन्ति=रञ्जयिष्यन्ति आश्वासयिष्यन्ति हर्षयिष्यन्ति।

समासः—ऋतुरस्य प्राप्तः इति आर्तवं तत् आर्तवम्। न कृष्टम् अकृष्टम् अकृष्टे रोहति तच्छीलम् अकृष्टरोहि तत् अकृष्टरोहि। बलये हितं बालेयम् तत् बालेयम्। उदारावाग् यासां ता उदारवाचः। मुनेः कन्यकाः मुनिकन्यकाः। नवः अभिषङ्गः यस्याः सा नवाभिषङ्गा तां नवाभिषङ्गाम्।

भावार्थः—सीते! ऋत्वनुरूपं पूजायोग्यं पुष्पं फलं वनस्थल्यां स्वयमुत्पन्नं नीवारादिधान्यं चानयन्त्यः प्रियभाषिण्यो मुनिकुमार्यः सद्यः सञ्जातदुःखां त्वां विनोदयिष्यन्तीति भावः।

भावार्थ—यहाँ की मुनिकन्याएँ तुम्हें सब ऋतुओं में उत्पन्न होनेवाले फल-फूल और पूजा के योग्य अन्न लाकर रख दिया करेंगी और मीठी मीठी बातें करके तुम्हारा मन भी बहलाया करेंगी ॥ ७७ ॥

पयोघटैराश्रमबालवृक्षान् सम्वर्धयन्ती स्वबलानुरूपैः ।
असंशयं प्राक्तनयोपपत्तेः स्तनन्धयप्रीतिमवाप्स्यसि त्वम् ॥ ७८ ॥

अन्वयः—स्वबलानुरूपैः पयोघटैः आश्रमबालवृक्षान् सम्वर्धयन्ती त्वं तनयोपपत्तेः प्राक् असंशयं स्तनन्धयप्रीतिं अवाप्स्यसि ।

सञ्जी०—स्वबलानुरूपैः स्वशक्त्यनुसारिभिः पयसामम्भसां घटैः । स्तन्यैरिति ध्वन्यते । आश्रमबालवृक्षान् सम्बर्धयन्ती त्वं तनयोपपत्तेः प्राक्पूर्वमसंशयं यथा स्यात्तथा । स्तनं धयति पिबतीति स्तनंधयः शिशुः । 'नासिकास्तनयोर्ध्माधेटोः' इति खश्प्रत्ययः । 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इत्यनेन मुमागमः । तस्मिन् या प्रीतिस्तामवाप्स्यसि । ततः परं सुलभ एव विनोद इति भावः ।

व्याख्या—हे वैदेहि ! स्वबलानुरूपैः = आत्मबलानुसारिभिः पयोघटैः = कलशजलैः । आश्रमबालवृक्षान् = आश्रमाभिनवतरून् । सम्वर्धयन्ती = समेधयन्ती पुष्यन्ती । त्वं = सीता । तनयोपपत्तेः = पुत्रोत्पत्तेः । प्राक् = पूर्वम् । असंशयं = निःसन्देहम् यथा तथा स्तनन्धयप्रीतिं = शिशुप्रीतिम् । अवाप्स्यसि = प्राप्स्यसि लप्स्यसे । ततः सुलभ एव ते विनोद इति भावः ।

समासः—स्वस्या बलं स्वबलं रूपमनुगता अनुरूपा स्वबलस्यानुरूपाः स्वबलानुरूपाः तैः स्वबलानुरूपैः । पयसां घटाः पयोघटाः तैः पयोघटैः । बालाश्च ते वृक्षाः बालवृक्षाः आश्रमस्य बालवृक्षा इति आश्रमबालवृक्षाः तान् आश्रमबालवृक्षान् । न विद्यते संशयो यस्मिन् कर्मणि तद्यथा भवति तथा असंशयम् । तनयस्य उपपत्तिः तनयोपपत्तिः तस्याः तनयोपपत्तेः । स्तनं धयतीति स्तनन्धयः । स्तनन्धयस्य स्तनन्धये वा प्रीतिः स्तनन्धयप्रीतिः तां स्तनन्धयप्रीतिम् ।

भावार्थः—सीते ! स्वशक्त्यनुरूपैः जलकलशैः आश्रमस्य बालवृक्षान् सेचनेन परिषोषयन्ती त्वं पुत्रजननात् पूर्वं नूनं शिशुवात्सल्यप्रीतिमवाप्स्यसीति भावः ।

भावार्थ—जो जल के घड़े तुमसे उठ सकें, उन्हें लेकर आश्रम के पौधों को तुम प्रेम से सींचा करो, इससे बड़ा भारी लाभ यह होगा कि बच्चा होने के पहले तुम यह सीख जाओगी कि दूध पीनेवाले बच्चों से कैसे प्रेम करना चाहिए ॥ ७८ ॥

अनुग्रहप्रत्यभिनन्दिनीं तां वाल्मीकिरादाय दयार्द्रचेताः ।
सायं मृगाध्यासितवेदिपार्श्वं स्वमाश्रमं शान्तमृगं निनाय ॥ ७९ ॥

अन्वयः—दयार्द्रचेताः वाल्मीकिः अनुग्रहप्रत्यभिनन्दिनीं तां आदाय सायं मृगाध्यासितवेदिपार्श्वं शान्तमृगं स्वम् आश्रमं निनाय ।

सञ्जी०—दयार्द्रचेताः वाल्मीकिः अनुग्रहं प्रत्यभिनन्दतीति तथोक्तां तां सीतामादाय सायं मृगैरध्यासितवेदिपार्श्वमधिष्ठितवेदिप्रान्तं शान्तमृगं स्वमाश्रमं निनाय ।

व्याख्या—दयार्द्रचेता=कल्याणाक्लान्तहृदयः दयालुः वाल्मीकिः=वाल्मीकिमुनिः, प्राचेतसः । अनुग्रहप्रत्यभिनन्दिनीं = दयाप्रशंसिकाम् । तां = सीताम् । आदाय=सह नीत्वा । सायं=सन्ध्यासमये । मृगाध्यासितवेदिपार्श्वम्=हरिणाधिष्ठितवेदिपार्श्वम् । शान्तमृगं=शमप्राप्तहरिणम । स्वं = नैजम् । आश्रमम् =तपःस्थानम् पर्णशालाम् । निनाय=प्रापितवान् ।

समासः—दयया आर्द्रं चेतो यस्या सा दयार्द्रचेताः । अनुग्रहं (स्वीयत्वेनाङ्गीकारं) प्रत्यभिनन्दति (साभारं श्लाघते) इति अनुग्रहप्रत्यभिनन्दिनी ताम् अनुग्रहप्रत्यभिनन्दिनीम् । वेद्याः पार्श्वे इति वेदिपार्श्वे मृगैः अध्यासिते वेदिपार्श्वे यस्य तत् मृगाध्यासितवेदिपार्श्वम् शान्ताः मृगा यस्मिन् तत् शान्तमृगम् ।

भावार्थः—परमदयालुः वाल्मीकिमुनिः कृतज्ञताप्रकाशिनीं सीतां वेदीपार्श्वनिषण्णमृगं शान्तप्रचारं स्वकीयमाश्रमं सायंकाले समानीतवानिति भावः ।

भाषार्थ—दयालु वाल्मीकिजी की कृपा का प्रत्यभिनन्दन करनेवाली सीताजी उनके साथ, उनके उस आश्रम पर चली गयीं, जहाँ सायङ्काल हो जाने के कारण बहुत से मृग वेदी को घेरकर बैठे हुए थे और सिंह आदि जन्तु चुपचाप आँखें मूँदे पड़े थे ॥ ७९ ॥

तामर्पयामास च शोकदीनां तदागमप्रीतिषु तापसीषु ।
निर्विष्टसारां पितृभिर्हिमांशोरन्त्यां कलां दर्श इवोषधीषु ॥ ८० ॥

अन्वयः—शोकदीनां तां तदागमप्रीतिषु तापसीषु पितृभिः निर्विष्टसारां हिमांशोः अन्त्यां कलां दर्शः औषधीषु इव अर्पयामास ।

सञ्जी०—शोकदीनां तां सीतां तस्याः सीताया आगमेन प्रीतिर्यासां तासु तापसीषु पितृभिरग्निष्वात्तादिभिर्निर्विष्टसारां भुक्तसारांहिमांशोरन्त्यामवशिष्टां कलां दर्शोऽमावास्याकाल औषधीष्विव अर्पयामास च । अत्र पराशरः —'पिबन्ति विमलं सोमं विशिष्टा तस्य वा कलाम् । सुधामृतमयीं पुण्यां तामिन्दोः पितरो मुने ॥' इति । व्यासश्च—'अमायां तु सदा सोम ओषधीः प्रतिपद्यते ।' इति ।

व्याख्या—वाल्मीकिमुनिः शोकदीनां=शुचादुःखिताम् । तां=सीताम् । तदागमप्रीतिसु=सीतागमनप्रसन्नासु । तापसीषु=तपस्विनीषु । पितृभिः=अग्निष्वात्ता-

दिभिः । निर्विष्टसारां=भुक्तसारां पीतपीयूषाम् । हिमांशोः चन्द्रमसः । अन्त्याम्= अवशिष्टाम् । कलां=भागम् । दर्शः=अमावस्याकालः । ओषधीषु इव = औषधेषु यथा । अर्पयामास=समर्पयामास ।

पीयूषपिण्डस्य चन्द्रमसोऽमृतमय्यः षोडशकला भवन्ति । तत्र कृष्णपक्षे प्रतिपत्तिथिमारभ्यामावस्यापर्यन्तं प्रतितिथि पितृदेवाः क्रमशः एकैकां कलां पिबन्ति । दर्शपर्यन्तं पञ्चदशसु कलासु पितृदेवैः पीतासु षोडश्याः कलाया अवशिष्टत्वादेककलं चन्द्रं भगवान् भास्करः स्वकीयेन सुषुम्नाख्येन रश्मिना पुनः पूर्णिमापर्यन्तमेकैकां कलामाप्याययति ।

इत्थं पञ्चदशभिर्दिनैः सञ्चितं सोमामृतं सुधाहाराः पितरः पुनः पातुमारभन्ते । अमायां सोमस्य गभस्तिभ्यो निःसृतं सुधामृतं पीत्वा सौम्या बर्हिषदः अग्निष्वात्ताश्च पितरो मासपर्यन्तं तृप्तिमवाप्नुवन्ति । सोमोऽमायां प्रथमं जले प्रविशन् वृक्षौषधिलतादिषु निवसन् सूर्ये प्रविशति । तथा चामावस्यायामोषधोऽवशिष्टामेकां चन्द्रकलां गृहीत्वा शुक्लपक्षे गृहीतसोमामृतदानेन परिपोषयन्तीति पौराणिकी व्यवस्थाऽनुसन्धेया । तथाहि विष्णुपुराणम्—

'क्षीणं पीतं सुरैः सोममाप्याययति दीप्तिमान् ।
मैत्रेयैककलं सन्तं रश्मिनैकेन भास्करः ।। २।१२।४
सम्भृतं चार्द्धमासेन तत्सोमस्थं सुधामृतम् ।
पिबन्ति देवा मैत्रेय ! सुधाहारा यतोऽमराः ।। २।१२।६
निःसृतं तदमावस्यां गभस्तिभ्यः सुधामृतम् ।
मासं तृप्तिमवाप्याग्र्यां पितरः सन्ति निर्वृताः ।।' २।१२।१३

समासः—शोकेन दीना शोकदीना तां शोकदीनाम् । तस्या आगमनेन प्रीतिः यासां ताः तदागमप्रीतयः तासु तदागमप्रीतिषु । तापसानां स्त्रियः तापस्यः तासु तापसीषु । निर्विष्टः सारो यस्याः सा निर्विष्टसारा तां निर्विष्टसाराम् । हिमाः अंशवो यस्य स हिमांशुः तस्य हिमांशोः । अन्ते भवा अन्त्या ताम् अन्त्याम् ।

भावार्थः—यथा अमावस्यासमयः अग्निष्वात्तादिभिः पितृभिः निष्पीतसारभागां चन्द्रमसोऽन्तिमां षोडशीं कलाम् ओषधिषु पुनः कलाभिवृद्धये निधापयति तथैव महर्षिर्वाल्मीकिरपि शोकक्लिष्टां परमदुःखितां कृशां सीतां परिपोषाय तदागमनेन परमप्रसन्नासु स्वाश्रमवासिनीषु तपस्विनीषु समर्पितवानिति भावः ।

भावार्थ—जिस प्रकार अमावस्या के समय चन्द्रमा साररूप में स्थित अन्तिम कला जड़ी-बूटियों और लता-वृक्षों को सौंप देता है, जिसका अमृतपान अग्निष्वा-

त्तादि पितर कर लिये रहते हैं, उसी प्रकार उस मुनि ने शोक से व्याकुल सीता को उन तपस्वियों के हाथ सौंप दिया, जो उनके वहाँ आ जाने से परम प्रसन्न हो गयी थीं ॥ ८० ॥

ता इङ्गुदीस्नेहकृतप्रदीपमास्तीर्णमेध्याजिनतल्पमन्तः ।
तस्यै सपर्यानुपदं दिनान्ते निवासहेतोरुटजं वितेरुः ॥ ८१ ॥

अन्वयः— ताः तस्यै सपर्यानुपदं दिनान्ते निवासहेतोः इङ्गुदीस्नेहकृतप्रदीपम् अन्तः आस्तीर्णमेध्याजिनतल्पम् उटजं वितेरुः ।

सञ्जी०—तास्तापस्यस्तस्यै सीतायै सपर्यानुपदं पूजानन्तरं दिनान्ते सायङ्काले निवास एव हेतुस्तस्य निवासहेतोः । निवासार्थमित्यर्थः । 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' इति षष्ठी । 'इंगुदी तापसतरुर्भूर्जं चर्मिमृदुत्वचौ' इत्यमरः । इंगुदीस्नेहेन कृतप्रदीपमन्तरास्तीर्णं मेध्यं शुद्धमजिनमेव तल्पं शय्या यस्मिंस्तमुटजं पर्णशालां वितेरुर्ददुः ।

व्याख्या—ताः=तापस्यः । तस्यै=सीतायै । सपर्यानुपदं=अतिथिपूजानन्तरम् । दिनान्ते=दिवसावसाने, सायङ्काले । निवासहेतोः=निवासार्थम् । इंगुदीस्नेहकृतप्रदीपं=तापसतरुतैलविहितदीपकम् । अन्तः=अभ्यन्तरे । आस्तीर्णम्=प्रसारितं, आच्छादितम् । मेध्याजिनतल्पं=शुद्धमृगचर्मशय्यम् । उटजं=पर्णशालाम् । वितेरुः=ददुः ।

समासः—सपर्याया अनुपदं सपर्यानुपदम् । दिनस्य अन्तः दिनान्तः तस्मिन् दिनान्ते । निवासस्य हेतुः निवासहेतुः तस्य निवासहेतोः । इंगुद्याः स्नेहः इंगुदीस्नेहः इंगुदीस्नेहेन कृतः प्रदीपः यस्मिन् स इंगुदीस्नेहकृतप्रदीपः तम् इंगुदीस्नेहकृतप्रदीपम् । मेध्यं च तदजिनमिति मेध्याजिनम् मेध्याजिनमेव तल्पं मेध्याजिनतल्पम् आस्तीर्णं मेध्याजिनतल्पं यस्मिन् स आस्तीर्णमेध्याजिनतल्पः तमास्तीर्णमेध्याजिनतल्पम् ।

भावार्थः—ताः तपस्विन्यः कन्द-मूल-फलादिभिः सीताया यथावद् आतिथ्य-सत्कारं कृत्वा सायङ्काले निवासार्थमेकां पर्णशालां प्रददुः, यत्राभ्यन्तरे इंगुदीतैलेन प्रज्वलितः प्रदीपः प्रज्वलतिस्म विशुद्धं मृगचर्म चास्तीर्णमासीदिति भावः ।

भावार्थ—पूजा के बाद सायङ्काल उन तपस्विनियों ने सीता के रहने के लिए एक पर्णकुटी दे दी, जिसमें इंगुदी के तेल का दीपक जल रहा था और नीचे मृगचर्म बिछा हुआ था ॥ ८१ ॥

तत्राभिषेकप्रयता वसन्ती प्रयुक्तपूजा विधिनाऽतिथिभ्यः ।
वन्येन सा वल्कलिनी शरीरं पत्युः प्रजासन्ततये बभार ॥ ८२ ॥

अन्वयः—तत्र अभिषेकप्रयता वसन्ती विधिना अतिथिभ्यः प्रयुक्तपूजा वल्कलिनी सा पत्युः प्रजासन्ततये वन्येन शरीरं बभार ।

सञ्जी०—तत्राश्रमेऽभिषेकेण स्नानेन प्रयता नियता वसंती विधिना शास्त्रेणातिथिभ्यः प्रयुक्तपूजा कृतसत्कारा वल्कलिनी सा सीता पत्युः प्रजासन्ततये सन्तानाविच्छेदाय हेतोः वन्येन कन्दमूलादिना शरीरं बभार पुपोष ।

व्याख्या—तत्र=तस्मिन् उटजे । अभिषेकप्रयता = स्नानपवित्रा । वसन्ती = वासं कुर्वन्ती । विधिना=यथाशास्त्रम् । अतिथिभ्यः=आगन्तुकेभ्यः । प्रयुक्तपूजा=विहितसत्कारा । वल्कलिनी=वल्कलं वसाना । सा=सीता । पत्युः=भर्तुः श्रीरामस्य । प्रजासन्ततये=वंशसातत्याय, कुलनैरन्तर्याय । वन्येन=आरण्यकेन, कन्दमूलफलादिना । शरीरं=देहम् । बभार=पुपोष ।

समासः—अभिषेकेण प्रयता अभिषेकप्रयता । प्रयुक्ता पूजा यस्या सा प्रयुक्तपूजा । वल्कलमस्या अस्तीति वल्कलिनी । प्रजायाः सन्ततिः प्रजासन्ततिः तस्यै प्रजासन्ततये । वने भवं वन्यं तेन वन्येन ।

भावार्थः—सीता वाल्मीकिमुनेराश्रमे वर्तमाना स्नानेन पूता अतिथिसत्कारमाचरन्ती वल्कलवस्त्रधारिणी सती श्रीरामस्य वंशपरम्पराभिवृद्धये आरण्यकेन कन्द मूल-फलादिना स्वं शरीरं पोषितवतीति भावः ।

भाषार्थ—वहाँ सीताजी प्रतिदिन स्नान करके बड़े नियम से रहती थीं। शास्त्रोक्त विधि से अतिथियों का सत्कार करती थीं, वृक्षों के वल्कल का वस्त्र पहनती थीं और केवल पति का वंश चलाने की इच्छा से ही कन्द-मूल-फल खाकर शरीर धारण करती थीं ॥ ८२ ॥

अपि प्रभुः सानुशयोऽधुना स्यात् किमुत्सुकः शक्रजितोऽपि हन्ता ।
शशंस सीता परिदेवनान्तमनुष्ठितं शासनमग्रजाय ॥ ८३ ॥

अन्वयः—प्रभुः अधुना अपि सानुशयः स्यात् किम् उत्सुकः शक्रजितः हन्ता लक्ष्मणः अपि सीतापरिदेवनान्तम् अनुष्ठितं शासनम् अग्रजाय शशंस ।

सञ्जी०—प्रभू राजाऽधुनाऽपि सानुशयः सानुतापः स्यात्किम् इति काकुः । उत्सुकः शक्रजित इन्द्रजितो हन्ता लक्ष्मणोऽपि सीतापरिदेवनान्तं सीताविलापान्तमनुष्ठितं शासनमग्रजाय शशंस कथयामास ।

व्याख्या—प्रभुः=अधिपः राजा श्रीरामः । अधुना अपि = साम्प्रतमपि । सानुशयः=पश्चात्तापोपेतः स्यात् किम् ?=भवेत् किम् ? येन सीतां प्रत्यावर्तये । इति =इत्थम् । उत्सुकः = उत्कण्ठितः । शक्रजितः = इन्द्रजितः; मेघनादस्य । हन्ता=घातकः, लक्ष्मणः अपि । सीतापरिदेवनान्त=मैथिलीविलापपर्यन्तम् । अनुष्ठितं=आचरितम् । शासनं=आदेशम् । अग्रजाय = ज्येष्ठभ्रात्रे श्रीरामाय । शशंश = जगाद ।

समासः—अनुशयेन सह वर्तते इति सानुशयः। शक्रं जयतीति शक्रजित् तस्य शक्रजितः। सीतायाः परिदेवनं सीतापरिदेवनं सीतापरिदेवनम् अन्तः यस्य यस्मिन् वा तत् सीतापरिदेवनान्तम्। अग्रे जातः अग्रजः तस्मै अग्रजाय।

भावार्थः—प्रभुः श्रीरामः सम्प्रतमपि सीताविषये पश्चात्तापवान् भवेत् किमित्युत्कण्ठितो लक्ष्मणः सीतायाः विलापपर्यन्तमनुष्ठितमग्रजस्यादेशं तस्मै श्रावयामासेति भावः।

भाषार्थ—सीता ने रो-रोकर जो बातें कही थीं, वे सब अयोध्या पहुँचकर इन्द्रविजेता मेघनाद को भी मारनेवाले लक्ष्मण ने श्रीराम से यह सोचकर कह दी कि देखें अब भी सीता के करुण सन्देश को सुनकर पछताते हैं या नहीं ॥ ८३ ॥

बभूव रामः सहसा सवाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रः।
कौलीनभीतेन गृहान्निरस्ता न तेन वैदेहसुता मनस्तः ॥ ८४ ॥

अन्वयः—सहसा सवाष्पः रामः तुषारवर्षी सहस्यचन्द्रः इव बभूव कौलीनभीतेन तेन वैदेहसुता गृहात् निरस्ता मनस्तः न।

सञ्जी०—सहसा सपदि सवाष्पो रामः तुषारवर्षी सहस्यचन्द्रः पौषेन्दुरिव बभूव। अत्यश्रुतया तुषारवर्षिणा पौषचन्द्रेण तुल्योऽभूत्। 'पौषे तैषसहस्यौ द्वौ' इत्यमरः। युक्तं चैतदित्याह—कौलीनाल्लोकापवादात्। 'स्यात्कौलीनं लोकवादे' इत्यमरः। भीतेन तेन रामेण वैदेहसुता सीता गृहान्निरस्ता। न मनस्तो मनसश्चित्तान्न निरस्ता। पञ्चम्यास्तसिल्।

व्याख्या—सहसा=सपदि। सवाष्पः=साश्रुपूर्णनयनः। करुणाक्रान्तकलेवरः। रामः=रघुपतिः। तुषारवर्षी=हिमस्यन्दी। सहस्यचन्द्र इव=पौषमासचन्द्रमा इव। बभूव=ववृते, सञ्जातः। कौलीनभीतेन=लोकापवादोद्विग्नेन तेन=रामेण। वैदेहसुता=जनकतनया सीता। गृहात्=भवनात् निरस्ता=निर्वासिता। मनस्तः=चित्तात्। न निरस्ता=नो निर्वासिता। अतो युक्त एव तदश्रुपात इत्यर्थः।

समासः—वाष्पेण सह वर्तते इति सवाष्पः। तुषारं वर्षति तच्छीलः तुषारवर्षी। सहसि साधुः सहस्यः सहस्यस्य चन्द्रः सहस्यचन्द्रः। कुलीनस्य भावः कर्म वा कौलीनं कौलीनात् भीतः कौलीनभीतः तेन कौलीनभीतेन। विदेहानां जनपदानां राजा वैदेहः वैदेहस्य सुता वैदेहसुता। मनस इति मनस्तः।

भावार्थः—लक्ष्मणमुखात् सीताविलापोदन्तं निशम्य हेमन्ततौ इन्दुः हिमविन्दून् इव रामो वाष्पबिन्दून् अमुञ्चत्। वस्तुतो लोकापवादभीतेन तेन स्वसौधादेव सीता निर्वासिताऽऽसीत्, न मनोमन्दिरादपीति भावः।

भाषार्थ—लक्ष्मण द्वारा सीता का सन्देश सुनकर तुषारवर्षी पौष मास के

चन्द्रमा के समान राम की आँखों से टपटप आँसू गिरने लगे, क्योंकि उन्होंने सीता को अपनी इच्छा से नहीं त्यागा था, किन्तु लोकनिन्दा के भय से ही छोड़ा था॥८४॥

निगृह्य शोकं स्वयमेव धीमान् वर्णाश्रमावेक्षणजागरूकः ।
स भ्रातृसाधारणभोगमृद्धं राज्यं रजोरिक्तमनाः शशास ॥ ८५ ॥

अन्वयः—धीमान् वर्णाश्रमावेक्षणजागरूकः रजोरिक्तमनाः सः स्वयमेव शोकं निगृह्य भ्रातृसाधारणभोगं ऋद्धं राज्यं शशास ।

सञ्जी०—धीमान्वर्णानामाश्रमाणां चावेक्षणेऽनुसन्धाने जागरूकोऽप्रमत्तः । 'जागरूकः' इत्यूकप्रत्ययः । रजोरिक्तमना रजोगुणशून्यचेताः स रामः स्वयमेव शोकं निगृह्य निरुध्य भ्रातृभिः साधारणभोगं शरीरस्थितिमात्रोपयुक्तमित्यर्थः । ऋद्धं समृद्धं राज्यं शशास ।

व्याख्या—धीमान्=बुद्धिमान् । वर्णाश्रमावेक्षणजागरूकः=वर्णाश्रमानुसन्धाना-प्रमत्तः । रजोरिक्तमनाः = रजोगुणरहितचेताः : सः=रामः । स्वयमेव=आत्मनैव शोकं=शुचं, दुःखम् । निगृह्य = निरुध्य । भ्रातृसाधारणभोगम् = अनुजसामान्य-भोगम् शरीरस्थितिमात्रोपयुक्तम् । ऋद्धं=समृद्धम् । राज्यं = राष्ट्रम् । शशास = शासितवान् ।

समासः—धीरस्यास्तीति धीमान् । वर्णाश्च आश्रमाश्च वर्णाश्रमा वर्णाश्रमाणाम् अवेक्षणं वर्णाश्रमावेक्षणं वर्णाश्रमावेक्षणे जागरूकः वर्णाश्रमावेक्षणजागरूकः । रजसा रिक्तं मनो यस्य स रजोरिक्तमनाः । भ्रातृभिः साधारणो भोगः यस्य तत् भ्रातृसाधारणभोगम् । राज्ञः भावः कर्म वा राज्यं तत् राज्यम् ।

भावार्थः—प्रशस्तमतिः श्रीरामः स्वय शोकं निगृह्य वर्णाश्रमधर्मपरिपालने जागरूकः सन् क्रोधमोहादिकारणं रजोगुणं दूरीकृत्य साकेतस्य वैभवशालि प्राज्यं राज्यं भ्रातृभिः समानमेव बुभुजे इति भावः ।

भाषार्थ—वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करने में सदा तत्पर, बुद्धिमान् और रजोगुण से रहित राम स्वयं सांसारिक सुखों का मोह छोड़कर और शोक को रोककर भाइयों के साथ अपने समृद्धिशाली राज्य का शासन करने लगे ॥ ८५ ॥

तामेकभार्यां परिवादभीरोः साध्वीमपि त्यक्तवतो नृपस्य ।
वक्षस्यसङ्घट्टसुखं वसन्ती रेजे सपत्नीरहितेव लक्ष्मीः ॥ ८६ ॥

अन्वयः—परिवादभीरोः एकभार्यां साध्वीम् अपि तां त्यक्तवतः नृपस्य वक्षसि असंघट्टसुखं वसन्ती लक्ष्मीः सपत्नी रहिता इव रेजे ।

सञ्जी०—परिवादभीरोर्निन्दाभीरोस्ताम् एवैकभार्यामपि साध्वीमपि सीतां

त्यक्तवतो नृपस्य रामचन्द्रस्य वक्षस्यसङ्घट्टसुखमसम्भाव्यसुखं वसन्ती लक्ष्मीः सपत्नीरहितेव रेजे दिदीपे। तस्य स्त्र्यन्तरपरिग्रहो नाभूदिति भावः।

व्याख्या—परिवादभीरोः=लोकनिन्दाकातरस्य। अत एव एकभार्यामपि= सतीम् एकाकिनीं पत्नीमपि। तां = सीताम्। त्यक्तवतः = मुक्तवतः। नृपस्य = राज्ञो रामस्य असङ्घट्टसुखं=स्थिरानन्दं यथा तथा वसन्ती=वासं कुर्वन्ती वर्तमाना! लक्ष्मीः = राज्यश्रीः। सपत्नीरहिता इव=असपत्नीका यथा रेजे=शुशुभे। श्रीरामो न विवाहान्तरं चकारेत्यर्थः।

समासः——भेत्तीति भ.रुः परिवादात् भीरुः परिवादभीरुः तस्य परिवादभीरोः। एका चासौ भार्या इति एकभार्या ताम् एकभार्याम्। सङ्घट्टस्य सुखं सङ्घट्टसुखं न विद्यते सङ्घट्टसुखं यस्मिन् तत् असङ्घट्टसुखम् यद्वा सङ्घट्टनं सङ्घट्टः अविद्यमानः सङ्घट्टो यस्य तत् असङ्घट्टम्, असङ्घट्टं सुखं यस्मिन् कर्मणि तत् असङ्घट्टसुखम्। समानः पतिः यस्याः सा सपत्नी सपत्न्या रहिता सपत्नीरहिता। नॄन् पातीति नृपः तस्य नृपस्य। वसतीति वसन्ती।

भावार्थः—लोकापवादभीत्या पतिव्रतामेकामपि पत्नीं निर्वासितवतो रामस्य वक्षःस्थले आलिङ्गनानन्दरूपसुखविमुखा राज्यलक्ष्मीः सपत्नीहीनेव भातिस्मेति भावः।

भाषार्थ—राम ने लोकापवाद के भय से अपनी सती साध्वी स्त्री सीता का त्याग कर दिया, इसलिए मानो बिना सौत की होकर राज्यलक्ष्मी ही उनके हृदय में कल्पनातीत सुखपूर्वक निवास करने लगी॥ ८६॥

सीतां हित्वा दशमुखरिपुर्नोपयेमे यदन्यां तस्या एव प्रतिकृतिसखो यत्क्रतूनाजहार!
वृत्तान्तेन श्रवणविषयप्रापिणा तेन भर्तुःसा दुर्वारं कथमपि परित्यागदुःखं विषेहे॥८७॥

अन्वयः—दशमुखरिपुः सीतां हित्वा अन्यां न उपयेमे यत् तस्या एव प्रतिकृतिसखः क्रतून् आजहार इति यत् तेन श्रवणविषयप्रापिणा भर्तुः वृत्तान्तेन सा दुर्वारं परित्यागदुःखं कथमपि विषेहे।

सञ्जी०—दशमुखरिपू रामः सीतां हित्वा त्यक्त्वाऽन्यां स्त्रियं नोपयेमे न परिणीतवानिति यत्। 'उपाद्यमः स्वकरणे' इत्यात्मनेपदम्। किञ्च तस्याः सीताया एव प्रतिकृतेः प्रतिमायाः हिरण्मय्याः सखः प्रतिकृतसखः सन् क्रतूनाजहाराहृतवानिति। 'सस्त्रीको धर्ममाचरेत्' इति धर्मशास्त्रात्। यत्तेन श्रवणविषयप्रापिणा श्रोत्रदेशगामिना भर्तुर्वृत्तान्तेन वार्तया हेतुना सा सीता दुर्वारं दुर्निरोधं परित्यागेन यद्दुःखं तत्कथमपि विषेहे विसोढवती।

इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीविनीसमाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशमहाकाव्ये सीतापरित्यागो नाम चतुर्दशः सर्गः॥ १४॥

व्याख्या—दशमुखरिपुः=दशाननारिः श्रीरामः । सीतां=जानकीम् । हित्वा=त्यक्त्वा । अन्यां=स्त्रियम् । न उपयेमे=न परिणीतवान् । किन्तु तस्या एव = सीताया एव । प्रतिकृतिसखः=हिरण्मयप्रतिमासहचरः सन् । यत् क्रतून् = अश्वमेधादीन् । आजहार=आहृतवान्, अनुष्ठितवान् । इति यत् एवं यो वृत्तान्तः तेन=तादृशेन । श्रवणविषयग्राहिणा=कर्णदेशगामिना । भर्तुः=पत्युः । श्रीरामस्य । वृत्तान्तेन = उदन्तेन । सा = सीता । दुर्वारं=दुर्निरोधम् । परित्यागदुःखं=परिहारकष्टम् । कथमपि=केनापि प्रकारेण । विषेहे=सोढवती ।

'सस्त्रीको धर्ममाचरेत्' इति धर्मशास्त्रानुसारं सपत्नीकस्यैव पुंसो यज्ञेऽधिकारनिर्णयेनापत्नीकस्य यज्ञेऽधिकाराभावात् जनकतनयायाः सीतायाः सुवर्णमयीं प्रतिमां विधाय तां धर्मपत्नीसीतात्वेनानुसन्धाय श्रीरामः सपत्नीको भूत्वाऽनेकानश्वमेधादीन् यज्ञानकार्षीदिति कथाऽत्रानुसन्धेया ।

समासः—दश मुखानि यस्य स दशमुखः दशमुखस्य रिपुः दशमुखरिपुः । प्रतिकृतेः सखा प्रतिकृतिसखः । श्रवणे एव विषयः श्रवणविषयः श्रवणविषयं प्राप्नोतीति श्रवणविषयप्रापी तेन श्रवणविषयप्रापिणा । परित्यागस्य दुःखं परित्यागदुःखं तत् परित्यागदुःखम् । दुःखेन वारयितुं शक्यं दुर्वारम् ।

भावार्थः—श्रीरामः सीतां त्यक्त्वा द्वितीयं विवाहं न कृतवान्, किन्तु तत्स्थानपन्नया हिरण्मय्या सीताप्रतिमया सहानेकानश्वमेधादीन् यज्ञानन्वतिष्ठत् । तादृशं वृत्तान्तमाकर्णयन्ती सीता स्वपरित्यागदुःखं केनापि प्रकारेण विसोढवतीति भावः ।

इति कविवरकालिदासकृते रघुवंशमहाकाव्ये पण्डितश्रीकृष्णमणित्रिपाठिना कृतायां व्याख्यायां चतुर्दशः सर्गः समाप्तः ।

भाषार्थ—रावण के शत्रु श्रीराम ने सीता को त्यागकर किसी दूसरी स्त्री से विवाह नहीं किया, किन्तु अश्वमेध यज्ञ करते समय उन्होंने सीता की स्वर्णमयी मूर्ति को उनका प्रतिनिधि बनाकर अर्द्धाङ्गिनी के रूप में बायें बैठाया था, जब सीताजी ने अपने पति की ये बातें सुनीं, तब उनके मन में जो अपने छोड़े जाने का असह्य दुःख था, वह किसी प्रकार सहन हो सका ॥ ८७ ॥

इस प्रकार त्रिपाठ्युपाह्व पण्डित श्रीकृष्णमणिशास्त्री द्वारा लिखित चन्द्रकला नामक हिन्दी टीका में रघुवंश महाकाव्य का सीतापरित्याग नामक चतुर्दश सर्ग समाप्त ।

चतुर्दशसर्ग-श्लोकानुक्रमणिका

[illegible] परीक्षोपयोगी [illegible]

१ रघुवंशमहाकाव्य प्र० सर्ग । 'चन्द्रकला' सं० हि० व्या०—शेषराज शर्मा २-५०
२ रघुवंशमहाकाव्यम् । 'विमला' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी
द्वितीय २-५० तृतीय ३-००, ४-५ ५-००, ६-७ ६-०० १३-१४ ५-
३ हितोपदेश : मित्रलाभ । 'चन्द्रकला' सं० हि० टीका—श्रीशेषराज शर्मा ६-
४ लघुसिद्धान्तकौमुदी । 'शिवाख्य' सं० हि० टीका—गोमतीप्रसाद शास्त्री १०-
५ तर्कसंग्रह—पदकृत्य । हिन्दी टीका सहित—श्री शेषराज शर्मा रेग्मी ३-
६ दशकुमार-पूर्वपीठिका । परीक्षोपयोगि 'विमला' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या
सहित । व्याख्याकार— पं० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी ६-००
७ कुमारसम्भव । 'विमला' संस्कृत-हिन्दी टीका—श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी
१—२ सर्ग ५—५० तृ० सर्ग २—२५ चतुर्थ सर्ग २—२५ पञ्चम सर्ग २-५०
८ स्वप्नवासवदत्ता । 'चन्द्रकला' सं० हि० टीका—श्रीशेषराजशर्मा रेग्मी ८-००
९ नीतिशतकम् । 'विमला' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित—कृष्णमणित्रिपाठी ३-५०
१० पञ्चतन्त्र । अपरीक्षितकारक । 'विमला' सं. हि. टीका । श्रीकृष्णमणि त्रि० ४-००
११ संस्कृत-व्याकरणम् । (अनु० खंड-निबन्ध खण्ड सहित)—पं० रामनन्द झा ८-००
१२ सांख्यकारिका । 'सांख्यप्रकाश' सं.हि. टीका सहित । श्रीकृष्णमणित्रिपाठी [illegible]-००
१३ वेदान्तसार । 'भावबोधिनी' सं० हि० टीका—श्रीरामशरण त्रिपाठी ६-००
१४ मेघदूत । 'चन्द्रकला' सं० हि० टीका—श्रीशेषराज शर्मा रेग्मी १४-००
१५ रामाभ्युदययात्रा । सं० हि० टीका सहित—श्रीरुद्रप्रसाद अवस्थी ७-००
१६ शिशुपालवध । सं० हि० टीका सहित । रामजीलाल शर्मा १-४ सर्ग १५-००
१७ दशरूपक । 'चन्द्रकला' हि०. टीका सहित—डॉ० भोलाशंकर व्यास १८-००
१८ साहित्यदर्पण । 'शशिकला' हिन्दी टीका १-६ परि० ३०-००, ७-१० परि १५-००
१९ काव्यप्रकाश । 'चन्द्रकला' हिन्दी टीका—डॉ० सत्यव्रत सिंह . ३०-००
२० भट्टिमहाकाव्य । सान्वय संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित । श्रीगोपालशास्त्री
'दर्शनकेशरी' १—४ सर्ग ८—०० ५—८ सर्ग १०—०० एवं १४—२२ सर्ग १०-००
२१ नैषधमहाकाव्य । 'चन्द्रकला' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित । श्रीशेषराज शर्मा
प्र० सर्ग ६—००, १-३ सर्ग १२—०० १-५ सर्ग १८—०० १-९ सर्ग ३०-००
२२ छन्दोमञ्जरी । (प्रमाणिक-संस्करण) । 'सुषमा'-'सफला' संस्कृत-
हिन्दी व्याख्या युक्त । व्याख्याकार—डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी . ५-००
२३ किरातार्जुनीयम् । 'विजया' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या, परीक्षोपयोगि
संस्करण । डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी । द्वितीय सर्ग २—०० ३—[illegible]
२४ प्रस्तावरत्नाकरः । परीक्षोपयोगि निबन्ध संग्रह । डॉ० ब्रह्मानन्द [illegible]
२५ अनुवादचन्द्रिका । (सर्वांगपूर्ण संस्करण) डॉ० ब्रह्मानन्द त्रि[illegible]